ग्रामीण पाठकों के लिए

दूसरी आजादी सेवा

ईला. आर. भट्ट

अनुवादिका

ज्योत्सना मिलन

चित्रकार

पार्थ सेन गुप्ता

एकः सूते सकलम्

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-2903-0

पहला संस्करण: 1999 (*शक* 1921)

Doosri Azadi - SEWA *(Hindi)*

रु. 12.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली—110016 द्वारा प्रकाशित

भूमिका

" दूसरी आजादी " के लिए जूझने का नाम 'सेवा" है। पहली आजादी यानी विदेशी हुकूमत से मुक्ति। वह थी राजनीतिक आजादी। आर्थिक आजादी पाना तो अभी बाकी ही था। गांधी जी ने कहा था, किसी भी जनता के लिए राजनीतिक आजादी के साथ-साथ आर्थिक आजादी उतनी ही अनिवार्य और महत्वपूर्ण है। गरीबी तो किसी भी समाज का नैतिक पतन है। राजनैतिक बदलाव या तकनीकी सुधार से शोषण के दूर हो जाने का कोई आश्वासन नहीं होता। इसीलिए आजादी की प्राप्ति के बाद जनता आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बने यह बेहद महत्वपूर्ण था। पिछले पच्चीस सालों में "सेवा" ने इस काम को किया, जिसे मैं "दूसरी आजादी" के गांधी संदेश को लोक सेवा जैसा मानती हूं। स्वतंत्र भारत में गरीबों एवं स्त्रियों को मताधिकार का मिलना ही भर पर्याप्त नहीं था। वे तो चाहती थीं "आवाज" और "दृश्यता"। यानी कि हमारी बात सुनी जानी चाहिए और हमारा अस्तित्व नजर आना चाहिए। पेट पालने के दैनंदिन संघर्ष से वे बाहर आना चाहती थीं। उन्हें तो नया सीखने का, नया करने का समान और पर्याप्त अवसर चाहिए था। वे सारे श्रमिक तो देश की मजदूर मुहिम से जुड़ना चाहते थे। दलित एवं अल्पसंख्यक कौमें सीमावर्ती होकर नहीं रहना चाहती थीं वे प्रगति की मुख्यधारा में आना चाहती थीं। वे भी चाहते थे अपनी "आवाज" और "दृश्यता"। आर्थिक साधनों की प्राप्ति के बिना शोषणयुक्त

परिस्थितियों से बाहर निकल पाना संभव नहीं था। वे "दूसरी आजादी" की हवा का आनंद लेना चाहते थे।

शुरूआत कुछ यों हुई थी। "सेवा" की स्त्रियां उससे बहुत आगे निकल गई। आज वे "तकदीर", "भगवान की इच्छा" या "सामाजिक प्रथा" जैसी चीजों को दोष देना नहीं चाहतीं। गांधी विचार ने "सेवा" को रास्ता दिखाया है इसी के परिणामस्वरूप स्त्रियां प्रतिबद्ध हुई, मेहनत करती रहीं। समाज-परिवर्तन में स्त्री-नेतृत्व की अनिवार्यता पर गहरी आस्था जागी। "आज" की खिड़की से वे दूर-दूर के वर्ष देखने लगीं। इस मुक्ति-यात्रा में स्त्रियों ने कितना कुछ किया और कितनी हरियाली और कितने सूखे को जाना। "अभी तो कितना कुछ कर सकते हैं और क्यों न करें?" ऐसा हुंकार उनकी आवाज में सहज ही गूंज उठता है। एक विदेशी मुलाकाती से मैंने पूछा कि क्या देखा? तो बोले कि "सेवा" में मैंने "केन डू विमेन" देखी। यानी कि "मैं कर सकती हूं" ऐसा कहने वाली स्त्रियों को मैंने देखा।

"सेवा" की "दूसरी आजादी" का सफर तो अभी जारी ही है। अब तो दूसरी पीढ़ी भी इससे जुड़ गई है।

"सेवा" की मातृसंस्था है अहमदाबाद का "मजूर महाजन संघ" विरासत में दो चीजें मिलीं: यूनियन एवं गांधी विचार। स्वर्गीय पूज्य अनसूयाबहन ने बीसवीं सदी के आरंभ में मिल मजदूरों को संगठित किया तब उनकी स्थिति बड़ी विषम थी। पंद्रह घंटे की मजदूरी, हफ्ते में न एक छुट्टी, न दिन में न एक पल का विश्राम। अनसूयाबहन मुझसे कहती थी कि बच्चा अपने बाप को नहीं पहचानता। बाप दिन में घर में रहे तब तो पहचाने। रात को बच्चे सो जाते हैं। जबरदस्त शोषण एवं अन्याय के वातावरण में मजदूरी करनेवाले कपड़ा मिल कामगारों को अनसूयाबहन ने गांधीजी के मार्गदर्शन के तहत् संगठित किया।

उसके बाद धीरे-धीरे औद्योगिक मजदूरों के लिए सुरक्षात्मक कानून बने। देश के अर्थतंत्र में उनकी गिनती होने लगी।

"सेवा" का संगठन जब शुरू हुआ तो स्वाश्रयी कामगारों की परिस्थिति मिल मजदूरों की असली स्थिति जितनी ही विषम थी। न कानूनी सुरक्षा, न काम की स्थितियों में सुधार और न ही सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का अधिकार। उसमें भी स्वाश्रयी कामगार स्त्रियां जो स्वयं मजदूरी या धंधा करके पेट पालती हैं, उनकी स्थिति तो और भी कठिन है। अहमदाबाद में जब स्वाश्रयी कामगार स्त्रियों को संगठित करना शुरु किया तबसे लगाकर आज तक निजी तौर पर मैं यही मानती हूं कि पूजनीया अनसूयाबहन के अधूरे छूटे काम को मैं पूरा कर रही हूं।

अहमदाबाद शहर के मजदूर इलाके में पहलेपहल मुझे मजूर महाजन की बड़ी कार्यकर्ता दीनूबहन के साथ रणछोड़पुरा वाघरी बस्ती में काम करने के लिए भेजा गया। मैंने जाना कि गरीब इलाके में जाना हो तो सादगीपूर्ण ढ़ंग से जाना चाहिए। लेकिन मेरी सफेद साड़ी की सफेदी को देखकर तो सब दूर से ही दंग रह गए । चारपाई पर बैठे पुरुष बोले: "आहा हा। ये बगुला है कि दूध"। मैं तो दाखिल होते ही खिसिया गई। स्त्रियों ने फिर चारपाई बिछाकर मुझे नीम के नीचे बिठाया। बैठने के पहले ही गोलाबारी शुरू हो गई: "बहन, आपके कितने बच्चे हैं?"

"मैं विवाहित नहीं हूं।"

"ओ हो, कितने अच्छे दिखते हैं और अभी तक कहीं शादी नहीं लगी है।"

मैंने तो मन ही मन तय कर लिया कि कल से अब तो ये काम बंद। इतने में गरबे गाने का समय हो गया। दीनूबहन ने सब स्त्रियों को इक्ट्ठा किया। मेरी परीक्षा लेने के लिए पहला गरबा उन्होंने मुझसे गाने को कहा। वह तो मेरे लिए आसान रहा।



माताजी का गरबा शुरू किया। देवी भक्त वाघरी स्त्रियों ने प्रसन्नतापूर्वक गरबा गाया, मेरे पांचों गरबों ने मुझे वाघरियों की बस्ती में पूरी तरह से पास करवा दिया।

"बहन कल जरूर आना" सबने प्रेम से कहा और मैं खुश हो गई।

तुम्हारा और मेरा "नेडा हो लोलणी" इस गरबे के शब्द आज तक मुझे उस क्षण का स्मरण दिला रहे हैं।

"सेवा" यूनियन

उन दिनों यानी 1971 में न हमारे पास कोई गुरु थे, न कोई नक्शा था, न ही कोई व्यूह-रचना जो यह बताए कि इन खुदरा धंधा-मजदूरी करने वाले श्रमिकों का संगठन किस प्रकार बनाया

जाए। हमारे पास तो सिर्फ मिल मजदूरों के यूनियन का अनुभव था। बस अपने अंदर की आवाज सुनते गए और उसी के मुताबिक काम करते गए संघ-बल की शक्ति पर मूलत: हमें गहरी श्रद्धा थी। बस इतना ही।

1981 अहमदाबाद स्थित भद्र में मजूर महाजन संघ के दफ्तर में एक दोपहर सूया गोबाभाई आई। मराठी कच्छा मारकर साड़ी पहनी थी, कपाल पर बड़ी सी बिंदी और हृष्ट-पुष्ट थीं। उनके साथ एक मूंछोंवाला लहीम-शहीम पुरूष था, शाणाजी।

"बहन, हम फुटपाथ पर रहते हैं और वहां पुलिस सताती है। हमें रहने के लिए घर चाहिए।"

"आप क्या काम करते हैं?"

"मैं और गोबो मस्कती मार्केट में कपड़े का ठेला खींचते हैं।"

शाणाजी की उपस्थिति में सूया से इतनी बात बड़ी मुश्किल से निकलवाई। घर तो ऐसे कैसे मिल सकता है?

अगले महीने में सूया मणिबहन को लेकर आई। इसके अलावा तीस के करीब सिर पर बोझा ढोनेवाली स्त्रियों को भी साथ लाई। साथ में शाणाजी तो थे ही। "बहन, हम कपड़े की गठानें खुदरा व्यापारियों तक पहुंचाते हैं। स्टेशन पर पार्सल करने ले जाते हैं।"

"मजदूरी में क्या मिलता है?"

"एक चक्कर लगाने के बीस पैसे मिलते हैं दिन में दस पंद्रह चक्कर लगते होंगे। दुकान की सफाई भी करते हैं। दोपहर चाय बनाते हैं सो अलग, उसका कुछ नहीं मिलता।" इतना अधिक बोलने के लिए शाणाजी ने स्त्रियों की खबर ले डाली क्योंकि वे तो घर दिलवाने के लिए सबको मजूर महासंघ में लाए थे।

सबसे पहले तो ये शाणाजी जो इन स्त्रियों के जीवन का ठेका

लिए बैठे थे, उन्हें मुझे दूर करना था। लेकिन इसमें अभी देर थी।

इस बात को महीनों बीत गए।

अब आए घरखाता कामगार, यानी घर में बैठकर सिलाई करनेवाली स्त्रियां। उन्हें कपड़ा खरीदने के लिए पूंजी चाहिए। वे भी आई और गई।

फिर आईं माणेकचौक की सब्जी बेचनेवाली वाघरी स्त्रियां—वे सुबह आईं, शाम को आई पूरीबाजार की पुराने कपड़े वाली स्त्रियां। सब कोई चाहती थीं पुलिस के संत्रास से छुटकारा। और दूसरा छुटकारा वे चाहती थीं सूदखोरों से। प्रतिदिन 10 प्रतिशत ब्याज चुकाकर धंधा करनेवाली उन श्रमजीवी स्त्रियों की रेतीदल मजदूरी ने हमारी आंखें खोल दीं। क्या संगठन का समय अब भी नहीं आया था?

अंत में आई हवाबीबी। वे बीस साल से एक ठेकेदार के लिए बीड़ियां बनाती थीं। बीड़ियां खराब हैं कहकर आधी बीड़ियां वो छांट के निकाल देता और फिर खुद रख लेता। और आधे की ही कीमत चुकाता। वो भी बिलकुल ही कम। 1000 बीड़ी बनाने के छह रुपए देता। तंबाकू भी कम, पत्ते खराब, कीमत कम और ऊपर से छंटनी। हवाबीबी के हाथ में आखिर क्या आ सकता था? बमुश्किल तीन रुपए और फिर भी बीस साल में ठेकेदार ने इनका काम बंद कर दिया। जी कलप उठा उनको साथ ले जाकर हमने लेबर कमिश्नर की कचहरी में शिकायत दर्ज करवाई। उत्तर मिला: "कामगार की कानूनी व्याख्या के मुताबिक हवाबीबी कामगार नहीं है इसलिए क्या किया जा सकता है?" धत् तेरे की। यह कैसा न्याय है?

अब तो यूनियन ही एकमात्र उद्धार है। 1971 की जनवरी में दोपहर को सभी कामगार स्त्रियों की सभा बुलाई। 100 से अधिक स्त्रियां आई लेकिन वे बैठे कहां? कोई बैठने नहीं देता

था। दुकानवाले उठा देते थे और फुटपाथ पर पुलिस पर पुलिस डंडे बरसाती थी। अंततः दिल्ली दरवाजे के बाहर तिकोने बगीचे में "सेवा" की पहली सभा हुई। सर्वसम्मति से तय हुआ कि कामगार मंडल यानी कि लेबर यूनियन बनाया जाए। फेरी टोकरेवाले, घर बैठकर बीड़ी बनानेवाले, कपड़े सीनेवाले, सिर पर बोझा ढोने वाले, ठेला चलानेवाले, महिला कामगारों का यूनियन बनाया जाए। साल भर में पांच रुपया चंदा लेना तय हुआ। वहीं के वहीं सब फटाफट चंदा जमा कराने लगीं। रसीद पाने की भी कोई परवाह किसी को नहीं थी क्योंकि हम तो आवाज बुलंद करना चाहते थे, दृश्यता पाना चाहते थे। ठेकेदारों-बिचौलियों-सूदखोरों को जीवन से दूर हटाना था। मजदूर हम नहीं रहना चाहते थे, "अपनी मजदूरी के स्वयं मालिक" होना चाहते थे। जीवन बदलना चाहते थे, शहर बदलना चाहते थे बल्कि कहें कि दुनिया बदलना चाहते थे। लेकिन ये किया कैसे जाए, ये हममें से किसी को पता नहीं था।

मजदूर आंदोलन का रास्ता चुना। वो भी गांधी के बताए तरीके से लेकिन ये किया कैसे जाए? न तो हाथ में कोई नक्शा था न आंख के सामने कोई नमूना था। भीतरी समझ के मुताबिक पहला कदम उठाया।

अच्छे-खासे संघर्ष के बाद संसार भर में अभी तक जो कहीं न था ऐसा एक यूनियन, सरकारी बही में दर्ज़ हुआ। स्त्रियों ने इतिहास रच डाला। यूनियन का नाम रखाः "स्वाश्रयी महिला सेवा संघ"–'सेल्फ इम्प्लॉइड विमेन्स एसोसिएशन' संक्षेप में प्यारा सा नाम "सेवा"। 12 अप्रैल 1972 के दिन दुनिया भर की मजदूर आलम में "कामगार मंडल" की तथा 'कामगार' की परिभाषा को बुनियादी चुनौती दी गई। ऐसा कहना कतई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आज भारत के छह राज्यों में ''सेवा'' चलती है। इस किस्म के कुछ अन्य यूनियन भी भारत में अब रचे गए हैं। उनका एन.सी.एल. करके एक राज्य स्तरीय महामंडल भी बनाया गया है: दक्षिण अफ्रीका, जिम्बाब्वे, अमेरिका में भी ''सेवा'' संगठन स्थापित हुआ है। आज भारत में ''सेवा'' सबसे बड़ी संस्था वाला (1996) एकमात्र कामगार मंडल है: 2,12,016। इस दिशा में पहल की थी ''सेवा'' की श्रमिक स्त्रियों ने। ''सेवा'' ने कभी हड़तालें न कीं हो ऐसा नहीं है। अवश्य की हैं सबसे पहले सिर पर बोझा ढोनेवालों की हड़ताल हुई। धनलक्ष्मी मार्केट में स्त्रियां सिर पर कपड़े के गट्ठर एक जगह से उठाकर दूसरी जगह पहुंचाती हैं और उन्हें गट्ठर के हिसाब से मजदूरी मिलती है। एक बार राधा बहन तथा लाछीं दोनों थोक-व्यापारी के यहां से कपड़े का माल सिर पर उठाकर रतनपोल के खुदरा व्यापारी के यहां पहुंचाने गईं। एक चक्कर के 25 पैसे मिलते थे। खुदरा व्यापारी की पेढ़ी दूसरी मंजिल पर थी, दो सीढ़ियां चढ़कर माल व्यापारी के यहां पहुंचाया। पहुंच देने से पहले माल देखा, पसन्द नहीं आया तो वापस भेज दिया। माल के वापस लौटने से बड़े व्यापारी का क्रोध से दिमाग भड़क उठा वो अपना गुस्सा किस पर निकालें? सो उन्होंने इन दो स्त्रियों पर निकाला और मजदूरी चुकाने से इंकार कर दिया। सिर पर बोझे के साथ दो चक्कर लगाए और मजदूरी के बदले शून्य। गरमी की दोपहर मैं तो जलने जलने को हो आई। हमने तो वो माल लेकर आम रास्ते पर की गटर का ढक्कन खोलकर उसमें डाल दिया। अलबत्ता गट्ठर बड़े थे इसलिए गटर में समा नहीं रहे थे लेकिन गुस्सा तो ऐसा ही आया था। फिर होश आने पर हमने दूसरे दिन हड़ताल की घोषणा कर दी। हड़ताल तो प्रतीक भर थी। लेकिन तीन दिन तक सिर पर बोझा ढोनेवाले मजदूरों ने काम बंद रखा था। परिणाम यह हुआ



कि व्यापारियों ने हमें बातचीत का निमंत्रण दिया। मजूर महाजन संघ के अध्यक्ष श्री अरविन्दभाई बुच को लेकर मैं धनलक्ष्मी मार्केट के महासंघ में गई और सिर पर बोझा ढोनेवालों के चक्कर के भाव में बढ़ोतरी तय की। हड़ताल का यह हमारा सबसे पहला अनुभव था।

लेकिन इसके बाद की हमारी हड़तालें काफी व्यवस्थित ढंग से हुईं। पहले पूरा सोच-विचार करना, आपस में समस्या की चर्चा करना, फिर सामने वाले के साथ चर्चा करना और फिर प्रस्ताव करना। हड़ताल का फैसला करना हो तो अगले को पहले से सूचित करना और तब जाकर कहीं हड़ताल की घोषणा करना। यह सब होने से पहले सभा, जुलूस, आवेदन-पत्र की सुपूर्दगी जैसी तमाम क्रियाएं हो चुकनी चाहिए। यह एक बुनियादी किस्म

की लोकशिक्षा है। अधिकतर तो परिणाम अच्छा ही आता है, मांग भी हमारी वाजिब होनी चाहिए अगर सफल न भी हों तो पुनश्च हरिःओम्! और क्या? हिंसा तो चाहिए ही नहीं। हिंसा से कभी कोई समस्या क्या हल होने पाई है? बताइए तो। जैसे ही पत्थर उठाया कि कानून और व्यवस्था की समस्या पैदा हो जाएगी। और हमारा मूल ध्येय नष्ट हो जाएगा। इसके अलावा जनता का सहारा भी चला जाएगा। किसी भी किस्म के सार्वजनिक हित या सामाजिक न्याय के मुद्दे से संबंधित लड़ाई में जनमत का सहारा अनिवार्य है।

घरखाता

घर में बैठकर उत्पादन करनेवाले श्रमिक घरखाता कहलाते हैं। बीड़ी बनानेवाली, पापड़ बेलनेवाली, सिलाई करनेवाली, जैसे घरखाता कामगारों को कारखानों के कामगारों या कचहरी के कर्मचारियों को मिलनेवाले किसी किस्म के अधिकार या कानूनी सुरक्षा प्राप्त नहीं होती, भला क्यों नहीं होती? घरखाता क्या काम नहीं करते? देश के उत्पादन में बढ़ोतरी नहीं करते? कैसा अन्याय है? "सेवा" यूनियन जो कि गुजरात के महामंडल से जुड़ा था, उसकी एक वार्षिक परिषद वड़ताल में हुई थी। उस परिषद में "सेवा" ने घरखाता के लिए कानूनी आवश्यकता के मुद्दे को चर्चा के लिए उठाया था तो वहां के बड़े-बड़े सम्माननीय नेता मजाक उड़ाने लगे। आपको क्या चाहिए है?" घर-घर में झूले, घर—घर में शौचालय? यह जड़ता थी या विशुद्ध स्वार्थ, ये बात तब समझ में नहीं आई थी। वह 1981 का वर्ष था।

लेकिन कालक्रम में स्थितियां धीरे-धीरे बदलती चली गई। जरा से में निराश होने पर कैसे चलेगा? 1988 में संसार के 81 गैर-साम्यवादी देशों की कामगार समितियों के महामंडलों (इंटरनेशनल कॉन्फेडरेशन ऑफ फ्री-ट्रेड-यूनियन) की विश्व परिषद ऑस्ट्रेलिया के मेलबोर्न शहर में हुई थी। उसमें "सेवा" यूनियन की ओर से घरखाता कामगारों की कानूनी सुरक्षा तथा रोजगार विकास के लिए प्रस्ताव रखा था जो सर्वसम्मति से पारित हुआ। असंगठित वर्ग के कामगारों की समस्या पर पहली ही बार इतनी उच्च-स्तरीय चर्चा हुई है। यानी कि दुनिया भर के तीस करोड़ कामगारों का प्रतिनिधित्व करनेवाले महामंडल ने घरखाता कामगारों को अपनी छत्रछाया में लिया। यह बात 15 मार्च 1988 की है।

"सेवा" के ऊपर घरखाताओं की जिम्मेदारी संसार भर से आ पड़ी। हिम्मत जुटाकर नेतृत्त्व लिया, यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका-एशिया के कामगार मंडलों का भी साथ लिया। यह तो सब जानते हैं कि हर मजदूर कानून की जननी जिनेवा में स्थापित अंतरराष्ट्रीय मजदूर संस्था आई.एल.ओ. (इंटरनेशनल लेबर आरगेनाईजेशन) है। अब जाकर स्पष्ट हुआ कि पहले आई.एल.ओ. में घरखाता कामगारों के लिए कन्वेन्शन (कानून) पारित हो तो ही संसार भर के तमाम देशों की सरकारों को घरखाताओं के लिए कानून बनाने को बाध्य किया जा सकता है। संगठित क्षेत्र के मजदूर यूनियनों के वर्चस्ववाले आई.एल.ओ. को समझाना भी एक कठिन काम है। फिर भी समय बीतने के साथ प्रगतिशील विचारवान् आई.एल.ओ. के साथ का संघर्ष भी लाभदायी साबित हुआ।

यूनो परिवार की यह संस्था त्रिपक्षीय है। इसमें हर फैसला मालिक, सरकार व मजदूर मंडल मिलकर ही करते हैं। इसलिए संघर्ष तो अनिवार्य था लेकिन दबाव लाने के लिए तीस करोड़

का प्रतिनिधित्व कोई छोटी-मोटी शक्ति नहीं थी। अंततः 1995 तथा 1996 के वर्षों में हुई दोनों सालाना परिषदों में प्रस्तुत कन्वेन्शन का मुद्दा ऐजेंडे पर आया। धुंआधार चर्चाएं हुई। मालिकों ने कई तरह के उत्पात मचाए, कार्यवाही का बहिष्कार किया। सरकारें भी पहले तो उत्साहित नहीं थीं लेकिन गरीब देशों की सरकारें अंततः समझीं। अमेरिका, जापान, समूचे यूरोप का बिना शर्त सहारा प्राप्त हुआ।

आखिरकार कयामत का दिन आ पहुंचा। 1996 की 20 जून को जिनेवा में संसार भर की सरकारों, मालिकों, मजदूरों ने घरखाता के कन्वेन्शन के मुद्दे पर मतदान किया। मजदूर जीत गए, आई.एल.ओ. का 177 नम्बर का घरखाता कन्वेन्शन पारित हुआ। संसार के 29 करोड़ घरखाता कामगारों के लिए तो जैसे नया सूर्य उदित हुआ। अब तो हर देश की सरकार को घरखाताओं के लिए कानूनी सुरक्षा देने को बाध्य होना पड़ा।

मतदान का परिणाम सभागृह की सामनेवाली दीवार पर के इलेक्ट्रॉनिक पटिए पर घोषित हुआ और मजदूरों के पक्ष में बहुमत आया। दूसरे ही पल फौरन सभागृहं में बैठे लोगों की गरदनें ऊपर उठीं और ऊपरी तीसरी बालकनी में बैठे "सेवा" के हम तीन लोगों की ओर मुड़ीं और सबने करतल ध्वनि तथा उड़ते चुंबनों से हमारा स्वागत किया। फिर ऊपर आकर हम लोगों को उठा लिया और गले मिले। जैसे ये "सेवा" की विजय की यह अविस्मरणीय घड़ी मजदूर के मुहिम के इतिहास में सदा के लिए खुद गई।

पहली ही बार इस किस्म के असंगठित वर्ग के बेहद कमजोर माने जानेवाले श्रमिक वर्ग के लिए अंतरराष्ट्रीय कानून बना। पहली ही बार आइ.एल.ओ. के कन्वेन्शन का लाभ अधिसंख्य गरीब देशों के कामगारों को मिला। और पहली ही बार इस समग्र

मुहिम की शुरूआत और लड़ाई का नेतृत्व गरीब देशों की महिला कामगारों (सेवा की स्त्रियों) में से आया।

अब अंतरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानून बनाने का महाकार्य बचा है या फिर लड़ाई का एक और अध्याय होगा: भारत में घरखाता कामगारों के लिए कानून का मसविदा तैयार हो रहा है।

हवाबीबीयों को अब लेबर कमिश्नर का दफ्तर न्याय देने से इंकार नहीं कर पाएगा। क्योंकि अब उसे कामगार की परिभाषा में विधिवत् रूप से स्वीकार किया गया है। राज्यसभा में (1988 में) घरखाता कामगार के रोजगार अधिकार का बिल ''प्राईवेट मेम्बर बिल'' के रूप में प्रस्तुत किया गया तब से वह चर्चा का विषय रहा है लेकिन बिल के कानून बनने का समय तो अब आया है।

फेरी–टोकरे

संसार भर के हर शहर में फेरी–टोकरेवालों को बड़ा दुख है। शहर को उनकी सेवा तो चाहिए लेकिन वे उन्हें देखना पसंद नहीं करते। जहां कहीं बेचने को बैठ जाते हैं उन्हें हड़काया जाता है। सस्ती–ताजा, झुकती सब्जी–भाजी खरीदते हैं। लेकिन पुलिस जब डंडा बरसाती है तो कोई भी ग्राहक टोकरेवालों को बचाने नहीं जाता। ऊपर से पुलिस खुद ही रोज उनसे अपना झोला भरवाती है। इटली के बेलाजियों नामक स्थान पर दुनिया के दस बड़े शहरों के फेरी–टोकरेवालों के प्रतिनिधि अपनी कानूनी स्थिति पर चर्चा करने के लिए एकत्रित हुए थे। दस शहरों में से अहमदाबाद को छोड़कर बकाया नौ शहरों के फेरी वाले एक से लगाकर अनेक बार जेल जा चुके थे। न्यूयार्क, नैरोबी, मैक्सिको, मनीला

आदि इनमें शामिल हैं।

एक बार माणेकचौक में हमारी साथी नीरूबहन ने पुलिस को रंगे हाथों पकड़ा था।

फिर से लूटने बैठे हैं इन स्त्रियों को? नीरूबहन ने धीरे से कहा। आप ऐसा कैसे कह सकती हैं?

नीरूबहन ने तो निर्भीकतापूर्वक पुलिस की जेब में हाथ डालकर दो-दो रुपयों की गड्डी निकाल दिखाई।

अन्य दो पुलिसकर्मी उनकी तरफदारी को आए, "बहन, छोड़ दीजिए, बेचारे के बीबी-बच्चे बर्बाद हो जाएंगे।"

"क्यों, लड़के-बच्चे क्या उसके अकेली के ही हैं? ये सब्जीवालियों के नहीं हैं क्या?"

जो दो-दो रुपए लिए थे वो देखते-देखते वापस लौटाए। उस दिन से नीरूबहन को "सेवा" के पुलिस कमिश्नर की उपाधि मिली।

वालमबहन ओमनगर में सब्जी-भाजी फैलाए बैठी हैं। बाजार में एन ग्राहकी का समय है और पुलिस उनकी जान खाती है। उन्हें खरीदी हुई हरी सब्जी बदलनी थी। वालमबहन ने अकुलाकर कहा कि साहब, आपको जो चाहिए था वो दे तो दिया, अब तो मुझे धंधा करने दीजिए। लेकिन वो तो तत्काल नई भाजी का आग्रह रखते थे। वालमबहन का गुस्सा बहुत दिन से जमा था। इसलिए फट से उन्होंने उसका बिल्ला खींच लिया। और उसे बोरे के नीचे दबाकर ऊपर बैठ गई। पुलिस बेचारे की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। पुलिस और स्थानीय निवासियों के बीच तंगदिली हो गई। ठेठ दूसरे दिन कमिश्नर के दफ्तर में गए तब जाकर मामला ठंडा पड़ा।

अलबत्ता, आखिरकार सर्वोच्च अदालत में दिल्ली जाकर गुहार लगाई और न्याय की मांग की तो माणेकचौक के बिक्री

करनेवालों को परवाने मिले। कुछ तो राहत हुई लेकिन बेचनेवालों की बुनियादी समस्याओं का हल नहीं निकला है और निकलेगा भी कि नहीं इस बारे में दुविधा और हताशा है। "साफ-सुथरा शहर" के उत्साह में हजारों श्रमजीवी टोकरेवालों के रोजगार जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं। इसका रास्ता निकालने की किसी को भी जल्दी नहीं है। शहर के आयोजनकर्ता के मन में शहरों की सुन्दरता का नमूना मॉन्ट्रीयल या कोपनहेगन रहा होगा, लेकिन भारतीय नगरों का नमूना या मॉडल क्यों नहीं बनता? बाजार में टोकरेवाले और गाड़ी खड़ी करनेवाले दोनों आमने-सामने-शहर की केन्द्रीय कीमती जगह पर किसका पहला अधिकार है? इसका निर्णय करने का सामर्थ्य न तो सरकार में है न ही म्युनिसिपल कॉरपोरेशन में। गाड़ी सड़क पर खड़ीं करें तो पार्किंग कहा जाता है और दो टोकरेवाली स्त्रियां ताजा सब्जी-भाजी और फल लेकर बैठी हों तो उसे दबालिया कहा जाता है। दोनों में अधिक सुन्दर कौन लगता है मोटर कि सब्जीवाली?

राज्यसभा में एक बार मैंने फेरी-टोकरीवालों के लिए राष्ट्रीय नीति की मांग करता प्रस्ताव रखा था तो सदन में मध्यांतर तक इस समस्या पर चर्चा चली थी। प्रधानमंत्रीजी ने उचित कार्यवाही करने का आश्वासन दिया था। लेकिन इन दिनों तो स्थिति और भी बिगड़ती जा रही है। संगठित क्षेत्र में नौकरी के अवसर लगभग बंद हो जाने से बेरोजगार युवा-वर्ग असंगठित क्षेत्र में भीड़ बढ़ा रहा है। आधी रोटी मिलती थी उसमें भी अब हिस्सा बंटने लगा। फेरी-टोकरेवालों की समस्या जटिल नहीं है। लेकिन व्यापक होने की वजह से उनका हल खोजने की तत्परता कोई भी नहीं दिखाता।

राष्ट्रीय स्तर पर

राष्ट्रीय स्तर पर अब काफी-कुछ हो रहा है। हम जानते हैं कि *असंगठित* क्षेत्र के कामगार ऐसे कामगार हैं जिनका कोई मालिक या सेठ नहीं है जिससे वे वेतन बढ़ोतरी या हक की छुट्टी मांग सकें। फिर भी, और जिनके पास एक छत के नीचे बारहों महीने काम न हो, जिन्हें रोजी-रोटी की खोज में अपना वतन छोड़कर पराए प्रदेशों में घर-बच्चे-पशु लेकर भटकना पड़ता हो ऐसे कई श्रमिक संगठन अपनी समस्याओं को प्रभावी ढंग से उठाने के लिए बैंगलोर में एकत्रित हुए और उन्होंने अपना महामंडल बनाया। 20 मई 1944 को 'नेशनल सेंटर फॉर लेबर' का झंडा फहराने का सौभाग्य मुझे मिला। इसमें भी नेतृत्व "सेवा" का और अधिसंख्य सदस्यता भी "सेवा" की। मजदूर आलम में यह एक अनहोनी घटना है।

एन.सी.एल. की रचना को एक पत्रकार ने 29 करोड़ श्रमिकों की बगावत बताया है, और ठीक बताया है। 29 करोड़ श्रमिक मजदूर मुहिम से बाहर रह जाएं, यह कैसे हो सकता है?

यह एक विशेष किस्म के यूनियन-संगठन की शुरूआत है। यह यूनियन केवल झंडा बरदारी करनेवाला यूनियन नहीं है। यहां तो काम की किस्में ही भिन्न हैं।

देश के करोड़ों ग्रामीण श्रमिकों को ही देखिए। ग्रामीण श्रमिक एक कामगार, उत्पादक तथा साहसिक (स्वयं रोजगार करनेवाला) तीनों का सम्मिश्रण है। वह सीमांत किसान, खेत-मज़दूर, कारीगर (बुनकर, कुम्हार, बढ़ई) तीनों अपने व्यवसाय से साल भर आजीविका प्राप्त करते हैं। इन तीनों को अलगाया नहीं जा सकता। इनके अवरोधक कोई व्यक्ति, या नौकरीदाता या

मालिक या कारखाना नहीं हैं। कुछेक नीतियां और प्रथाएं इसका निरंतर शोषण करती हैं। जैसे कि ठेकेदार प्रणाली। इनको न्याय मिलने वाला नहीं क्योंकि इनके लिए पर्याप्त कानून नहीं है।

इसका उपाय नीति बदलने में समाहित है। स्थानीय त्रिपक्षीय ढाचें में न्याय प्राप्ति का मार्ग खोजना होगा। नए आर्थिक सुधार के लाभों को नीचे तक पहुंचाना है, न कि बड़े उद्योगपतियों एवं व्यापारियों तक ही रहने देना है। छोटे फेरी–टोकरेवाले, घरखाता, दिहाड़ी मजदूरीवाले, मछुआरे, वनवासी, लकड़ी बीननेवाले— सभी को उदारीकरण नीति के माध्यम से आजादी प्राप्त करनी है और उनके जीवन में सुधार लाना है, उनको सुखी करना है। मंजिल बहुत लंबी है अभी तो पहला ही कदम रखा है।

सेवा बैंक

सरकारी विभाग के रजिस्ट्रार उस दिन श्रमिक स्त्रियों के बैंक का आवेदन देखकर कांप उठे, इन अंगूठाछाप वालों का भी क्या बैंक हो सकता है? फिर जरा ठंडे पड़कर मुझसे कहा "बहन, इन लोगों को लोन देने की बात भूल जाइए, इन लोगों को लोन देंगे तो ये कभी पैसा नहीं भरेंगे और आपके लिए आत्महत्या करने की बारी आएगी।"

लेकिन हम टस से मस नहीं हुए। हमें तो पक्का पता था कि ये स्त्रियां कमाती हैं, इनके हाथ में रोज नकदी आती है, ये निश्चय ही नियम से बचत कर पाएंगी और फिर ये तो व्यवसायी स्त्रियां हैं। उन्हें तो ऋण की बेहद आवश्यकता होती हैं। प्रतिदिन

का 10 प्रतिशत ब्याज क्या नहीं दे पाएगीं?

"सेवा" को तो पूरा विश्वास था कि "सेवा" की श्रमिक, स्वयं धंधा मजदूरी करनेवाली, हिन्दू-मुस्लिम, हरिजन-वाघरी, आदिवासी तमाम स्त्रियां बचत और ऋण दोनों उत्साहपूर्वक करेंगी। इससे अधिक बड़ा आश्वासन बैंक के लिए और क्या चाहिए होता है? "अनबैंकेबल" को "सेवा" ने तो कब का "बैंकेबल" के रूप में पहचान लिया था। ठेठ 1974 में, 23 साल बाद आज 1997 में 70,000 के करीब "सेवा" बैंक की स्त्रियों ने यह साबित कर दिया है कि भले ही हम गरीब हैं, अंगूठाछाप हैं या अनिश्चित धंधा करने वाले हैं लेकिन अब बैंक जैसी आर्थिक संस्था को "लाभदायी" के रूप में खुद मैनेज कर सकते हैं। हमारी पूंजी 12 करोड से भी अधिक है। हमारी वसूली-दर प्रतिशत है। हमने एक पाई भी कभी बाहरी पूंजी को सहायता के रूप में नहीं लिया है।

आज तक एक भी लोन पर समझौता नहीं किया है। कोई भी स्त्री अपंग या रामशरण हो जाए तो उसकी बहू-बेटी-देवरानी कोई भी बकाया लेना चुकता करे। हर सफल मुनाफे के बंटवारे में से हमने अधिक से अधिक 15 प्रतिशत मुनाफा दिया है। 23 साल में हमारा बैंक हमारे अपने सुविधाजनक मकान में चलने लगा है। अपने बूते हमने अपना मकान बनाया है।

सेवा बैंक रिजर्व बैंक के नीति-नियमों के मुताबिक "स्थिर" एवं "मजबूत" है। ऑडिट में हमेशा ही इसने "ए" ग्रेड प्राप्त किया है। बोर्ड की डायरेक्टर मूलीबहन कहती हैं कि, "मेरे सदस्य का एक भी हफ्ता चूकता है तो मेरी नींद उड़ जाती है।" देश के कौन से बैंक के बोर्ड सदस्य की नींद इस तरह उड़ती होगी? यह बात भूतपूर्व वित्तमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने एक बार सार्वजनिक सभा में कही थी।

ई.स. 1996 के आखिर में अगर ''सेवा-बैंक'' की फलश्रुति को आंकड़ों में देखें तो कहा जा सकता है कि बैंक के पास पंद्रह करोड़ इकतालिस लाख की कुल पूंजी है। इसमें एक रुपया भी बाहर का नहीं है। ये तो ''सेवा'' की तमाम श्रमजीवी स्त्रियों की ही सामूहिक पूंजी है। 169 हजार से भी अधिक बचत-खाते हैं, 60 हजार से भी अधिक स्त्रियों ने ऋण लिया है। वसूली दर 95 से 96 प्रतिशत के बीच कहीं है। इस साल बैंक ने अपना मकान ले लिया है, ये भी स्त्रियों की अपनी साझा मिलकत पूंजी ही तो है।

नानुबहन विट्ठल, सेवा-बैंक की सम्माननीय सदस्या हैं। वे स्वयं कड़ी तहसील के गांव में खेत-मजदूरी करती हैं। तीन रुपए दिहाड़ी मिलती है और उस पर काम भी साल भर में छह महीनों के लिए ही मिलता है। बकाया दिनों में आधे पेट सो जाना होता है। इतने कठिन थे उनके वे दिन। 1978 में सात रुपए लेकर दोनों लोग काम की तलाश में अहमदाबाद जा पहुंचे थे। ओमनगर की चाल में दादा के घर पांच रुपए किराया देकर रहने लगे। उनकी दादी प्याले-बरनियों की फेरी करती थीं और पुराने कपड़े लाती थीं। फटा-पुराना सिल कर तथा काट-कूट कर नए जैसे पहनने लायक कपड़े तैयार करतीं और उन्हें ले जाकर गुजरी बाजार में बेचतीं। दादी ने उन्हें धंधे में लगा दिया। अपने पड़ौसी की किराए पर ली गई मशीन पर पति-पत्नी दोनों ने सिलाई करना सीखा।

''सेवा'' बैंक की बोर्ड की तत्कालीन डायरेक्टेर चंदाबहन को नानुबहन बैंक में लाई और उन्हें रु. 500 का लोन दिलवाया उसमें से वे खरीद लाई प्याले-बरनियां रखने का एक टोकरा। एक जोड़ी मजबूत वाली चप्पलें, धागा, बटन तथा खाने के लिए कुछ गल्ला। इसमें से नानुबहन ने रु. 400 का शुद्ध मुनाफा कमाया। फिर से रु. 1500 का ऋण लिया और अपनी झोंपडी

का फर्श ठीक करवाया। ऐसे करते करते उन्होंने आज तक 'सेवा' बैंक से कोई अठारह हजार का कर्ज़ लिया है। अपनी कमाई से उन्होंने किराए वाले घर को अपना कर लिया है, बेटी की शादी कर दी है, अपने लिए चूड़ियां और गले की चेन बनवाई है, पति की बत्तीसी बनवाई है और तब भी उनके खाते में आज रु. 12000 का बैलेंस है।

"अब मैं पलंग पर सोती हूं, सिलिंग फैन लगवा लिया है, घर में गल्ले का तथा सेल का स्टॉक है, साबुन है, गरम कपड़े हैं ...धंधे में पूंजी लगाई है, प्रसंगोपाल होने वाले खर्चों को तो बिलकुल ही बंद कर दिया है। अपने रिश्तेदारों से कहती हूं कि मेरे घर आइए, खाइए, पीजिए और रहिए लेकिन कुछ लेने देने के रिवाज की उम्मीद मुझसे न रखिए। पहले सारे कपड़े मैं धोती थी अब धोबन को देती हूं। प्रेस करने के लिए एक अन्य को रखा है और सिलाई का काम जब बहुत बढ़ जाता है तो फिर दरजी को देती हूं, मगर टोकरा तो मेरे सिर पर रहता ही है।"

ये है नानुबहन विट्ठल की बात: "सात रुपए से चार लाख की यात्रा" में उनके अठारह सालों के जीवन का हिसाब है। ऐसी छोटी-मोटी 60,000 नानुबहनें सेवा बैंक की आपबीती के जीवंत चरित्र हैं। ये नानुबहनें एक दूसरे का हाथ पकड़कर दूसरी आजादी की मंजिल को उत्साहपूर्वक तय कर रही हैं।

जीवीबहन भूमिहीन खेत मजदूर हैं। जिस समय सेवाबैंक से जुड़ीं उस समय उनके सिर पर कर्ज का बड़ा बोझ था। उन्होंने गाएं पालीं, बंद करघे को चालू कर परिवार के कर्जे चुकाए, उनका बैंक बैलेन्स बोलने लगा फिर उन्होंने अपनी झोंपड़ी को पक्का करवा लिया। पड़ोस का घर खरीद लिया और बेटे को काम पर लगा दिया। स्वभाव से वे धीर-गंभीर, दृढ़ एवं विचारशील हैं। आसपास उनकी विचारवाणी का वजन बढ़ने लगा। गांव की बंद

पड़ी मंडली को महिला दुग्ध समिति में रुपांतरित करके उसको जीवंत बना दिया। हिसाब किताब करना, दूध के फेट की नपाई करना आदि काम उन्होंने सीख लिए। वे समिति की अध्यक्ष चुन ली गई। आज स्वयं फैसले करती हैं, करवाती हैं, ग्रामपंचायत में प्रभावी होने के पाठ आरंभ किए हैं। जीवुबहन गुजरात राज्य महिला सहकारी संघ की बोर्ड-सदस्य हैं। एफ.ओ. दिल्ली अपनी दुग्धनीति की चर्चा में जीवुबहन का उदाहरण बार-बार प्रस्तुत करती हैं।

कोई अड़सठ वर्षीय पार्वतीबहन खेत मजदूर हैं। कपड़े तो फटे-टूटे हैं लेकिन बटुआ नया है, गजी सिल्क का। उन्होंने पच्चीस रुपए निकालकर तारा बहन को दिए। "विधवा स्त्री हूं, बुढ़ापे में कौन मुझे संभालेगा?" ताराबेन की ओर देखकर उन्होंने कहा, जैसे कि तारा बहन ही उनके बुढ़ापे को पार लगानेवाली हों।

पार्वतीबहन की बचत पुस्तिका में तारा बहन ने 25 रुपए चढ़ा दिए। कुल बैलेन्स था छह सौ उन्नीस रुपए जो उन्होंने पार्वतीबहन को कान में बताया। ताराबहन झमकूबहन की ओर मुड़ीं और उनसे पूछा "आपकी बचत इतनी कम क्यों है?"

"बहन मेरा बेटा उठा ले गया"

कतार में बैठे हैं राधा, नूरी, मीनाक्षी, देवल, जमना, समझू, राई, कोकिला।

ताराबहन हमारा चलता-फिरता बैंक हैं। दूर से ताराबहन को आते देखकर झोंपड़पट्टी की स्त्रियां अपना हफ्ता तैयार कर लेती हैं। अलग-अलग गांवों, इलाकों के दिन तय होते है। वहां पहुंचकर आवाज देते हुए वे अपनी उपस्थिति का एहसास करातीं एक पेड़ की छाया में बैठकर झोले से अपनी बही निकालती हैं। इसी बीच पंद्रह-सत्रह स्त्रियां जमा हो जाती हैं। बीड़ी, अगरबत्ती,



मछली, चिन्दी, गोंद, नमक बारी-बारी से सबका नंबर लगता है। शाम होने पर उस नगदी को ताराबहन जब बैंक के कैशियर के सामने उलटती हैं तो उस दिन की महक अलग ही होती है। आज तम्बाकू की तो कल मछली की, जहां कहीं ताराबहन जाती हैं अटूट विश्वास जगाती हैं। पूरे शहर के बारह जोन में इसी के आधार पर "सेवा-बैंक" ने चलित शाखाएं खोली हैं। बैंक के मोबाइल वेन को नियमित रूप से भेजकर "घर-आंगन में बैंकिंग" की व्यवस्था को स्थायी बनाया है। हकीकत में तो "सेवा" बैंक अपने मकान में नहीं बल्कि स्त्रियों के निवास तथा बाजार के इलाकों में चलता है। 'सेवा' की ग्रामीण बैंक योजना की जड़ें भी इसी किस्म की घर-आंगन में बैंकिंग प्रणाली के माध्यम से ही डाली गई हैं।

इस समय (1996) गुजरात के कुल मिलाकर नौ जिलों में

स्त्रियों की लगभग 886 के करीब ग्राम बचत समितियां हैं जिन्हें स्त्रियां स्वयं ही चलाती हैं। समझ लीजिए कि ये जैसे उनका अपना ही बैंक है। इस प्रकार कोई 18,000 स्त्रियां नियमित रूप से बचत करती हैं, ऋण प्राप्त करती हैं, धंधे को विकसित करती हैं। पुराना कर्ज चुकाती हैं, गिरवी रखी जमीन छुड़ाती हैं। घर से सभी लोगों के जीवन स्तरों को ऊपर उठाती हैं, गांव के पुरुषों को भी बार-बार लगता है कि हमारी भी ऐसी समितियां हों तो कितना अच्छा हो। ये हुई न स्त्रियों की आगेवानी की बात। जिन गांवों में संगठन की अन्य कोई गतिविधि नहीं है; वहां तो महिला बचत समितियां समाज परिवर्तन के विस्तृत कामों में भी प्रवृत्त होती हैं। कपाल गांव की बचत समिति की हर स्त्री ने प्रति माह दस रुपए बचाने का नियम बनाया है। इस गांव में पीने के पानी का बोर बंद हो गया था। संचालन तो पुरुषों का था लेकिन जिम्मेदारी निभाने में वे ढीले पड़ गए। आदमी लोग सुबह जल्दी नहीं उठते। पानी का कर जमा नहीं करते, उगाही भी नहीं करते। कभी कर लें तो भी राशि रफा-दफा हो जाती है। इसी तरह चलता रहता है। इसलिए गांव के पानी का कनेक्शन कट गया। बिना पानी के परेशानी तो स्त्रियों को ही न होगी।

शादी के मौकों पर और भी परेशानी मालूम होती है। टैंकर बिल्कुल ही अनियमित आते हैं। पानी का बिल कोई रु. 10,000 तक चढ़ गया था। और एक बार तो इस पानी के चक्कर में ही बचत समिति की मीटिंग नहीं हो पाई थी। मीटिंग में अनुपस्थित रहने के लिए समिति की अध्यक्ष अमीनाबहन सहित हर एक को जुर्माना देना पड़ा। फिर सोचा गया कि पानी की मूल समस्या को ही क्यों न पहले लिया जाए। अमीनाबहन की आगेवानी में बचत समिति गांधीनगर तक जाकर जल आपूर्ति बोर्ड को बार-बार समझा आई। बोर्ड ने आखिरकार 20 प्रतिशत राशि माफ की,

फिर भी गांव को 80 प्रतिशत तो भरनी ही थी। बचत-समिति की स्त्रियों ने गांव के पांच सौ घरों को बांट लिया। हर परिवार के एक बड़े व्यक्ति से दस रुपए की उगाही करके बिल जमा कर दिया। उसी महीने में पानी का जोर शुरू हुआ। स्त्रियों को अब तो पानी पंचायत का संचालन भी रास आ गया है। बिल नियमित रूप से जमा किया जाता है और पानी भी नियमित रूप से आता है।

स्त्रियों को जब-जब भी विकास का अवसर मिलता है। तब-तब वे जीवनोद्धारक कदम उठाती ही हैं। ऐसा लगभग सभी जगह नजर आता है। इसीलिए हमारी स्त्रियों को हर स्तर पर कई किस्म के अवसर मिलने चाहिए। आरक्षण की आवश्यकता नहीं है, बल्कि समान अवसर की आवश्यकता है।

नवापुरा गांव की 70 सदस्यों की मजबूत बचत समिति अपने संचालन के मामले में एक नमूना मानी जा सकती है। बहियां, रजिस्टर, ब्याज की गिनती, मिनिट्स प्रस्ताव सब कुछ व्यवस्थित, परफेक्ट। विदेश के अध्येता भी वहां का दौरा करते हैं। और ट्रेनिंग मोड्यूल में उपयोग करते हैं। इस समिति के ऋण तो अधिकतर पुराने कर्ज उतारने के लिए दिए जाते थे। सामाजिक रीति-रिवाजों के कुंए में गले तक डूबे परिवारों के सिर पर कर्ज चढ़ते जाते थे। ''सेवा-बैंक'' की ओर से बार-बार उलाहना मिलता था कि यह ठीक नहीं है। ऋण का उपयोग तो उत्पादक कामों के लिए, उद्योग धंधों को विकसित करने के लिए होना चाहिए। समिति की अध्यक्ष कमलाबहन ने अंतत: हिम्मत की और आखिरीनामा पेश किया कि हमारे गांव से, मृत्यु के बाद पूरे गांव को खाना खिलाने का रिवाज दूर किया जाना चाहिए। संघर्ष की बात लंबी है। लेकिन आखिरकार ऐसा करना संभव हो पाया। सबसे सहयोग लेने की इस बचत-समिति की धैर्यपूर्ण पैरवी सच में

प्रशंसनीय है।

साणंद तहसील के शंकरपुरा गांव में 'सेवा' की आगेवान शांताबहन तंबाकू के खेत में मजदूरी करती हैं। फसल उतरने पर उसमें से एक चौथाई हिस्सा मजदूरी मिलती है। उससे क्या गुजारा हो सकता है? उनके गांव में स्त्रियों की अपनी परेशानी थी कि आटा पिसवाने के लिए भी दूसरे गांव जाना पड़ता था। गांव में चक्की हो तो बड़ी राहत हो सकती है। शांताबहन का साहस प्रकट हुआ। बचत समिति से रु. 60,000 का लोन लिया। और एक बंद पड़ी मगर नई सी चक्की को खरीदकर अपने आंगन में लगवा दिया। गांव के सौ घरों का पिसान शांताबहन की चक्की पर ही पिसता था। शांताबहन की तो मिलकत हो गई और आय भी हो गई। एक विधवा, पढ़ीलिखी भतीजी को उन्होंने काम पर रख लिया उसके लिए नई रोजी पैदा हो गई और गांव की स्त्रियों के लिए सुविधा भी हो गई।

हर बचत समिति बचत की मासिक राशि स्वयं ही तय करती है। और नियम से उतनी बचाती है तब वे इस बात पर विशेष रूप से ध्यान देती है कि बचत की राशि छोटी से छोटी स्त्री को भी पुसानेवाली होनी चाहिए। समिति अपने मंत्री चुनती है, अध्यक्ष चुनती है जो हर किसी से समय पर बचत उगाहकर, हर किसी की पासबुक में जमा करके "सेवा" बैंक में जमा करवा दे। बैंक की विकास टोली गांव में जाकर तालीम देती है और जिस किसी को कोई परेशानी होती है, तो उसे दूर करने में उसकी सहायता करती है। मीटिंग कैसे चलाना, मिनिट्स कैसे लिखना, ब्याज कैसे गिनना, झगड़ा आ पड़े तो उसका हल कैसे करना, कौन सी लोन उत्पादक मानी जाती है और कौन सी अनुत्पादक—यह सब कुछ साथ बैठकर सिखाती है। आठ दस महीने में पूरी प्रणाली व्यवस्थित हो जाती है। साल के अंत में आम सभा होती है,

इसमें मुनाफे–नुकसान का हिसाब पढ़ा जाता है। मुनाफा बांटा जाता है और नए साल के आयोजन के लिए सिफारिशें होती हैं, सुझाव दिए जात हैं। भाषण करने के लिए माइक पर आते हुए घबराती नहीं और एक बार घबराने वाली स्त्री दूसरी बार फिर से किसी दूसरे मौके पर अवश्य ही माइक पर आएगी। ये तो "सेवा" का दैनंदिन अनुभव है। कि स्त्रियां भरी सभा में भी बोलने में भी पीछे नहीं हटतीं।

बैंक के हर काम में स्त्रियों के साथ काफी निकट का विश्वासपूर्ण संबंध भी बैंक को यश दिलवाता है। वो हमारी ग्राहक नहीं है। युगों से उपेक्षित हैं हमारी बहनें। शायद हफ्ता न भर पाएं तो उस स्थिति में भी हम उसे डिफॉल्टर या गुनहगार के रूप में नहीं देखते हैं। दंगों में या बाढ़ या अकाल में उन्होंने केवल घर बार ही नहीं अपने स्वजनों को भी गंवाया होता है। ऐसे में वे ऋण की राशि जमा न कर पाएं यह भी हो सकता है। ऐसे समय प्रश्न तो उनके फिर से उठ खड़े होने का है। इसलिए कई बार हम फिर से अतिरिक्त लोन देकर हिम्मत बंधाते हैं। हालांकि अब तो उन स्त्रियों ने बीमा उतरवा लिया है इसलिए विपदा के खिलाफ उन्हें ठीक–ठीक सहारा मिल जाता है।

अब ठेकेदार, कांट्रेक्टर या निजी सूदखोर इन स्त्रियों की जिन्दगी से लगभग विदा हो चुके हैं। स्त्रियां पारिवारिक मिलकत की हिस्सेदार हुई हैं। उनके अपने नाम पर जमीन और घर हुए हैं। "सेवा"बैंक का कड़ा अनुशासन है कि गिरवी रखी घर–जमीन छुड़ाने के लिए लोन लेने पर घर–जमीन के सात–बारह के उतारने के दस्तावेज में उस स्त्री का नाम लिखा जाए। घर के पुरुष इस बात से परेशान होते हैं, अकुलाते हैं, लेकिन हम कहते हैं कि "नियम तो नियम है हम आपको पहचानते नहीं हैं, हम तो ये स्त्री जो हमारी सदस्य है और जो नियम से बचत करती

है उसी को पहचानते हैं। बैंक जोखिम उठाता है तो वो अपने सदस्य को देखकर उठाता है किसी दूसरे को देखकर नहीं। इसलिए क्षमा करें।'' हालांकि तहसील के अधिकारी कई बार पुरुषों को चिढ़ाते हैं कि देख लेना एक दिन ऐसा आएगा कि तुम्हारी औरत तुम्हें अपनी ही जमीन पर पैर नहीं रखने देगी। लेकिन सत्य तो छिपा नहीं रह सकता न?

ग्रामीण स्त्री की साहसिकता

''सेवा'' का आरंभ तो अहमदाबाद शहर से हुआ। लेकिन समय के साथ गांव की स्त्रियां बढ़ती गईं। ''सेवा'' की 66 प्रतिशत स्त्रियां नौ जिलों में फैली ग्रामीण स्त्रियां हैं। ग्राम-विकास के कार्यों को वहीं की स्त्रियों के हाथ से करवाने का ''सेवा'' का संकल्प है। ग्राम-संपत्ति-साधनों को उत्पादक बनाकर उनसे होनेवाली पैदावार को वहीं की भूमि पर इस्तेमाल किया जाए, ऐसे एक सुनिश्चित और स्पष्ट ध्येय के साथ ग्राम-सेवा की गतिविधि चलती है। सूखे प्रदेशों में रोजगार की कमी है। पूरा साल निकालना कठिन हो जाने पर वतन छोड़कर सपरिवार दूर-दूर चले जाना एक लाचारी हो जाती है और ऐसी स्थिति में स्त्रियों और बच्चों का तो सबसे बुरा हाल होता है। स्थानांतरण सच में एक करुण घटना है। स्थानीय परिस्थिति को ही क्यों न इस तरह निर्मित किया जाए कि रोजी के अवसर वहीं पैदा हों और साधन भी वहीं सुरक्षित रह पाएं। पर्यावरण का विकास भी अगर आदमी अपने वतन में रहेगा तो होगा अन्यथा तो जमीन अधिकाधिक परती होती जाएगी और परिस्थिति भी खराब होती

चली *जाएगी।*

गुजरात के नौ जिलों में, 34 तहसीलों के 65 गांवों में कुल *1,07,531* सदस्य स्त्रियां "सेवा" की छोटी-मोटी गतिविधियों से जुड़ी हुई हैं। इनमें से 52 प्रतिशत सदस्य खेती करते हैं यानी खेत-मजदूर हैं, 20 प्रतिशत कढ़ाई करनेवाले कारीगर हैं। इसके अलावा पशुपालक, नमक-कामगार तथा वनवासी हैं। वहां पांच साल से कम उम्र के कितने ही ऐसे बच्चे हैं जिन्होंने बारिश की एक बूंद भी नहीं देखी है, तो फिर उनके पानी में या कीचड़ में छप्-छप् करके खेलने का प्रश्न तो उठता ही कहां हैं? अहमदाबाद जिले में थोड़ी-बहुत बरसात तो होती है लेकिन स्थानांतरण की लाचारी तो वहां भी है।

एक दिन आकाशवाणी से न्यूनतम वेतन के कानून में खेत-मजदूरी को भी समाहित करने की सरकारी घोषणा हुई तो उसके आधार पर (1976) धोलका तहसील के गांव से 'सेवा' की स्त्रियों सहित अन्य पुरुषों ने किसानों से विधिवत मजदूरी की मांग की। लड़ाई अच्छी-खासी चली। एक खेत में अंधेरी रात को हमें मार भी खानी पड़ी। विधिवत् मजदूरी चुकाई भी गई लेकिन रात होने पर डर के मारे चुपचाप जाकर पूरी राशि मालिक के घर लौटा भी आए थे। आमने-सामने केस भी हुए थे और जिनका अभी तक भी अंत नहीं आया है। लेकिन मरहमपट्टी करवाकर अस्पताल में पड़े हुए हमने पहला पाठ यह सीखा कि ग्रामीण इलाके में शहर जैसी यूनियनबाजी नहीं चल सकती। गांव में जहां रोजगारी की तंगी है यानी कि काम खोजनेवाले मजदूर जहां उफनते हैं वहां मजदूरों में सौदा शक्ति नहीं के बराबर ही रहने वाली है। मूलतः तो गांवों में बड़े पैमाने पर रोजगारी के अवसर खड़े करने की आवश्यकता है। तबसे "सेवा" ने गांवों में स्वरोजगारी के बड़े कार्यक्रमों को हाथ में लिया। यूनियन के साथ

सहकारी समितियों को जोड़ा। गांव में स्वीकृति पाने में ''सेवा'' की यह रणनीति कई दृष्टियों से काफी लाभदायी साबित हुई।

जिले की स्त्रियों की आवश्यकता के मुताबिक संबंधित इलाके की गतिविधियां मोड़ लेती रहती हैं, जैसे कि अहमदाबाद जिले में पशु-पालन तथा ऊंट-व्यवसाय की गतिविधियां विकसित हुई और 35 महिला दुग्ध-मंडलियां बनीं। बनासकांठा में रेगिस्तान को बढ़ने से रोकने एवं स्थानांतरण को भी रोकने की दिशा में प्रमुखतः ध्यान दिया गया। खेड़ा जिले में तंबाकू के खेतों एवं खली में काम करनेवाली स्त्रियों को संगठित करके मजदूर कानून का लाभ उन्हें दिलवाने के लिए संघर्ष किया। इसके अलावा सब जगह बचत, बाल-सेवा, आरोग्य सेवा एवं हाउसिंग के कार्यक्रमों को काफी विकसित किया। बड़ौदा जिले में सूखी नदी पर बने बांध से डूब में आनेवाले गांव के परिवारों को स्त्रियों के नेतृत्व के तहत् आर्थिक पुनर्वास का सरकार का काम स्त्रियों को बीच में रखकर ''सेवा'' ने अपने हाथ में लिया। साबरकांठा जिले में स्थानीय परिवारों की खेती में उत्पादकता बढ़ाने के ध्येय से स्त्रियों के नेतृत्व में जल-स्राव कार्यक्रम भी लिए। सुरेन्द्रनगर जिले में स्थानीय परिवारों की सूची में बड़े पैमाने पर नमक व्यवसाय में लगे कामगारों के सर्वांगीण विकास का काम उनकी बालसेवा के माध्यम से शुरू किया। कच्छ जिले में हस्त–कारीगरों को संगठित करके उन्हें बाजार से सीधे जुड़ने का अवसर मिले ऐसे ढांचे को निर्मित किया।

कलोल तहसील के गणेशपुरा में वनलक्ष्मी नामक भूमिहीन खेत-मजदूर स्त्रियों की जमीन-मंडली बनाई गई। पंचायत के प्रस्ताव के अंतर्गत दस एकड़ जमीन प्राप्त करके स्त्रियों ने वनलक्ष्मी समिति की स्थापना की। जमीन के प्लॉट स्त्रियों ने समझकर बांट लिए। कृषि–विद्यालय से तालीम प्राप्त की। और

अबं भी कर रहे हैं। एवं अपनी पैदावार भी बढ़ाते जा रहे हैं। नगदी फसल, दूध मंडली के लिए सामूहिक घास चारा तथा गल्ला-सब्जी भाजी का बढ़िया संतुलन उनके खेती के काम में देखने को मिलता है। पशु रखते हैं खाद भी उनका अपना है। एक प्लास्टिक जड़ा तालाब बनाकर बारिश के पानी को झेल लिया है। इस तालाब में साल के आठ नौ महीने पानी बना रहता है। एग्रो इंडस्ट्री से नए साधन खरीदे उसमें सिरमौर जैसे पॉवरटीलर छोटा सा ट्रैक्टर भी थे। समूबहन तथा जसीबहन साड़ी की पटली को ऊंचा खोंसकर मिट्टी के गुब्बार उड़ाते हुए जमीन काटती हैं। सिर से पल्ला गिर जाए, नाइलोन की साड़ी फिसलती जाए, ये परेशानियां कब दूर होंगी? लेकिन यह तो अवांतर बात हुई। कांताबहन पेस्टीसाइड के पंप को कंधे पर टांगकर छिड़काव करती हैं।

"यह समिति बनी तभी तो मुझे जमीन मालिक होने का अवसर मिला।" शान्ताबहन ने कहा।

स्कूल के विद्यार्थियों से लेकर, विश्वबैंक के उपाध्यक्ष, उच्च अधिकारियों से मुलाकातें वनलक्ष्मी के लिए अब किसी किस्म की नवीनता नहीं है। क्योंकि "वनलक्ष्मी" को मॉडल फार्म" के रूप में खेती बाड़ी विभाग ने गिनाया है।

विरासत में मिलनेवाली जमीन स्त्रियों को प्राप्त हो इसके लिए एक संगीन लड़ाई की आवश्यकता है। हर जमीन के सात-बारह के अवतरण में पति के साथ पत्नी का नाम क्यों नहीं लिया जाना चाहिए? "सेवा-बैंक" जब गिरवी रखी अपनी जमीन को छुड़ाने के लिए सदस्य स्त्री को ऋण देता है तब वो उनसे इस मामले में इस बात का आग्रह रखता है और उसे उसमें आंशिक सफलता भी मिली है। लेकिन मुद्दा कानूनी है। पत्नी का नाम शामिल करने के लिए पति को आवेदन देना पड़ता है। पत्नी के आवेदन का

कोई वजूद नहीं होता। "सेवा-बैंक" का महत्त्वपूर्ण अनुभव यह रहा है कि जहां-जहां स्त्री का नाम साथ में जोड़ा है वहां वो जमीन फिर से गिरवी नहीं रखी गई है। डाहया भाई कहते हैं, "उसके (पत्नी के) हस्ताक्षर के बिना मैं अपनी जमीन भी गिरवी नहीं रख सकता हूं। अच्छा हुआ कि उसका नाम साथ में जोड़ा गया वरना मैं फट से दस्तखत करके गिरवी रख देनेवालों में से हूं। और सच भी तो है कंधे से कंधा मिलाकर स्त्री भी मेरे साथ खेती का काम करती है। तब फिर खेत पर उसका भी तो अधिकार हुआ कि नहीं?"

पानी का भी ऐसा ही है। पानी भी क्या उत्पादक मिलकत नहीं है? पानी के संचालन का अधिकार भी गांव की स्त्रियों को होना चाहिए। वे सिर्फ पानी को बरतनेवाले (उपभोक्ता) ही न रहें। स्त्रियां पानी की संचालक मालिक भी हैं। यें बातें हमें नीतिकारों को समझानी हैं। स्त्री के हाथ में परिवार की मिलकत अधिक सुरक्षित है। स्त्री के हाथ में आने वाली नगदी रकम सीधे ही परिवार के रोटी-कपड़े, बच्चों के लिए उपयोग में आएगी। इसीलिए सरकार से, बैंकों से हमारा कहना है कि नगदी स्त्री के नाम पर होने दीजिए।

बोदेली के आदिवासियों के गांव के निवासियों के आर्थिक जीवन का पुर्नवास करना था। गुजरात सरकार की ओर से यह काम "सेवा" को सौंपा गया। किसी भी समस्या के हल में "सेवा" को तो स्त्रियां ही नजर आती हैं। विश्वास भी स्त्रियों का ही होता है। तमाम सरकारी योजनाओं से स्त्रियों को सपरिवार जोड़कर पहले तो नए गांवों की जगह उन्हें स्थिर किया गया। सिंचाई विभाग के साथ संघर्ष करके खेती पानी की सुविधा पैदा की। सूखी नहर के पुनःस्थापितों का सूखी महिला एसोसिएशन

बनाया गया। ये एसोसिएशन अब नर्सरी में रोपे पनपाकर खुले बाजारों में बेचता है और स्थानीय हरियाली का विस्तार करता है। मुर्गी पालन की उनकी इकाइयां लाभदायी हैं। टमाटर की खेती करना न केवल सीखा, बल्कि की भी। लेकिन बम्बई के बाजार का ऑर्डर रद्द होने पर वह घाटे में चली गई। बचत-ऋण सेवा समिति बनाई है, झूलाघर स्थापित किए हैं, "सेवा-बैंक" की सामूहिक बीमा योजना से जुड़े हैं। बड़ोदरा के कलेक्टर तक ये स्त्रियां अपनी बात को प्रस्तुत करती हैं। निष्कर्ष, सरकार के साधनों का उन्होंने समय-समय पर अच्छा उपयोग किया है। लेकिन पांच साल बीतने के बाद भी अभी स्थानीय पंचायत के गांवों के साथ मेल नहीं बैठ पाया है। वे सदा "बाहरी तत्व" के रूप में ही जाने जाते हैं। कविता बहन जिन्हें पहले सारे लोग "कवली" कहकर पुकारते थे, एसोसिएशन की अध्यक्ष कहती हैं "हर बात में सब कोई मुझसे ही पूछने आते हैं। आज सुबह हमारे भाई लोग मुझसे सिमेंट का भाव पूछने आए, कल मुझसे पूछा कि सिचांई मंत्री का नाम क्या है? सारा ज्ञान जैसे मुझको ही होना चाहिए"

"आपने क्या उत्तर दिया?"

"मैंने कहा कि सिमेंट का भाव कल बताऊंगी, मैं सामनेवाले गांव के ठेकेदार से पूछ रखूंगी। मंत्री का नाम तो मुझे याद है, एक बार पानी के मामले में अंजनाबहन के साथ उनसे मिलने गए थे।"

बडदला गांव के एक तरफ पहाड़ी है, पूरी पहाड़ी पत्थरों की है। हर साल कोई न कोई ठेकेदार आता है, जमीन की लीज पर लेकर अपना धंधा करता है। गांव के लोगों को मजदूरी मिल जाती है। बाहर वाले मुफ्त के भाव पत्थर निकाल ले जाते हैं। उसके बाद शहरों में सड़के बनती हैं, मकान चुने जाते हैं।

स्थानीय आदिवासी लोग जहां थे वहीं के वहीं रहते हैं। सूखी महिला समिति ने कविताबहन के नेतृत्व में पत्थर की कामगार समिति बनाई और उसका नाम दिया "कस्तूरबा समिति" क्योंकि उन सबके घरों में अगर कोई तस्वीर होती है तो वह केवल कस्तूरबा की होती है। तस्वीर के बिना दीया नहीं जलता और दीया न जलने पर नया काम भी नहीं होता। कलेक्टर के यहां से कई बार प्रपोजल वापिस आया कि आदिवासी स्त्रियों को भला क्या आ सकता है? कहते हैं कि आप परिवार नियोजन का बजट लीजिए। आखिरकार समिति रजिस्टर हुई। "सेवा-बैंक" से ऋण लिया, पत्थर निकालना शुरू हो गया, "अब तो पहाड़ भी हमारे और पत्थर भी हमारे, मजदूरी भी हमारी।"

उत्तरी गुजरात के एकदम पश्चिमी सिरे की तहसील सांतलपुर के ये गांव हैं। "चोराड के रेगिस्तान की कांधी के गांव हैं ये तो बहन। इस जंगल में हम तो कांटों में रहते हैं, गांव का सीमान्त भी नहीं देखा है ऐसे में राधनपुर कहां से आएंगे? कैसी मीटिंग और कैसी बात?" केसरबहन संगठन से जुड़ने में आनाकानी करती हैं। राधनपुर में गोंद के भाव बढ़ाने के लिए सबसे पहली मीटिंग – फरवरी 1992 में हुई थी।

सांतलपुर तहसील के सिरे के रेगिस्तान में बसे पंद्रह गांव में जंगल से गोंद बीनने का व्यवसाय है। वहां की तीन हजार स्त्रियां "सेवा" के साथ जुड़ी हैं। उनकी नेत्री राणबहन आज "सेवा" की कार्यकारिणी की चुनी हुई सदस्य हैं। गोंद के भाव बढ़ाने की उनकी लड़ाई जैसे एक अनंत लड़ाई है। एक किलो गोंद की दर 4 रुपए थी जिसे बढ़ाकर पहले 6/–, 8/–, 12/– किया। ये गोंद बीनने वाले अब खुशहाल थे, बचत भी करने लगे। कि तभी न जाने क्यों सरकार ने गोंद आयात किया। इसलिए

स्वाभाविक ही निगम में स्थानीय गोंद जमा हो गया। गोंद तो चिपककर बेकार होने लगा। दर गिरकर फिर से रु. 6 हो गयी। गोंद तो राष्ट्रीय कृत सरकारी चीज है इसलिए इस वनोपज को तो वन निगम को ही बीनकर देना आवश्यक है। खुले बाजार में गोंद का यही भाव चल रहा है। एक किलो के रू. 26। अब लड़ाई यह है कि हमें गोंद खुले बाजार में बेचने दीजिए। मौजूदा देश की ख्याति प्राप्त उदारीकरण नीति क्या छोटे लोगों पर लागू नहीं होती? क्या बड़े उद्योगपति तथा व्यापारियों को ही इसका लाभ दिया जाना चाहिए?

बनासकांठा जैसे रेगिस्तानी इलाके में नर्सरी पनपाने का काम छोटे प्रोजेक्ट के रूप में शुरु किया गया था। उस समय की रोंगटे खड़े कर देनेवाली कहानी हिलाकर रख देती है। रोपे पनपे भी तो कैसे? पानी की कमी, गरम लू, रोपे बेचारे एकदम दुर्बल लेकिन इसके बरक़्स स्त्रियों का धीरज मकड़ियों को भी लजानेवाला था। बार-बार बीज बोती हैं। गगरी भर-भरकर दूर से पानी लाकर सींचती हैं, ऊपर से छादन बनाती हैं, चाहे लकड़ी का, चाहे घास का, रतजगा करके टैंकर मंगवाती हैं और पानी देती हैं। पांचवे साल में जाकर नर्सरी पनपाने का काम सफल हुआ। स्थानीय खेती-बाड़ी विश्वविद्यालय की सहायता ली, उनके लिए भी रेगिस्तान में यह नर्सरी का पहला प्रयोग था। वन-प्रभाग इतने सालों से नर्सरी पनपा रहा था, लेकिन केवल कागज पर ही यह बात उजागर हो गई। उनके विरोध का तो कोई अंत ही नहीं था क्योंकि गांव के लड़के नर्सरी समूह से जब वनविभाग की ओर से रोपे लेने आए तब स्त्रियों ने रोपे बेचने की रसीद मांगी। महिला निगम के इंस्पेक्टर ने फुट लेकर हर रोपे को नापा। रोपा

बारह इंच के बदले दस इंच का होने पर योजना के नियम के मुताबिक सहायता नहीं मिलती। रेगिस्तान में रोपे पनपाने के लिए शाबासी देने की बात तो धरी रही लेकिन आज जब पंद्रह लाख रोपों की हरियाली लहरा रही है तथा उसका श्रेय लेने को हर कोई तैयार है। चलो ठीक है। बनासकांठा के द्वाकरा समूह एसोसिएशन का सूत्र है कि हर गांव में तीन चीजें स्थापित करें: कढ़ाई उद्योग, रोपा उद्योग और खेत तालाब।

बीज़िंग में यूनो की विश्व महिला परिषद हुई थी। उसमें "सेवा" का प्रतिनिधि मण्डल काफी बड़ा जो कि सत्रह स्त्रियों का था: 12 नेत्रियां और पांच कार्यकर्ता। 17 में से दो को छोड़ बाकी सब गांव की स्त्रियां थीं जिन्होंने काफी मजा लगाया था। गांव में शेर होकर घूमनेवाली शेरगढ़ की समूबहन ने पहली बार बहुमंजिला इमारत देखी, इमारत के प्रति वे ऐसा अहोभाव दिखा रही थीं मानो वह स्वर्ग की सीढ़ी ही न हो। सबको सलाह दे रही थीं कि देखना अकेले न घूमना वरना स्वर्ग में पहुंच जाओगी। बच्चे की तरह बड़े की उंगली पकड़कर ही चल रही थीं। उनके साथ थीं आंतरनेश की राणबाई, जिन्होंने कभी हरियाली देखी ही नहीं थी। जब चीन की दीवार "ग्रेट वॉल" देखने गए तो दूर से पहाड़ पर की झाड़ी को देखकर बोलीं, "क्यों री शरीफा, पहाड़ पर ये हरी झाड़ी नहीं है यह तो पेड़ है हां पेड़ कितना भाग्यशाली मूल्क है ये।" दुनिया भले ही चीन की दीवार को अजूबा माने लेकिन राण बाई के लिए तो पहाड़ पर के पेड़ ही दुनिया का एक अजूबा था। गणेशपुरा की समूबहन तो चीन के लोगों को देखती ही रह गई 'ये तो सब एक से ही हैं, पुरुष और स्त्री। सबके बाल भी एक से और कपड़े भी एक से। माथे पर बिंदी तो लगाते ही

नहीं'' वहां खाने में नूडल्स देखकर हाथ जोड़कर श्रद्धा से प्रणाम किया, 'ये तो नाग देवता हैं, इन्हें कैसे खा सकते हैं?'' गांव में सारे लोगों की कही बात याद आई कि चीन में तो लोग सब कुछ खाते हैं सांप और चूहा और सब कुछ। समूबहन विमान में रात भर जगी ही रहीं। बगल में बैठी सांवली अफ्रीकी स्त्री को उन्होंने पुरुष ही मान लिया था। पराए आदमी के साथ बैठे कैसा सोया जा सकता है भला?

ग्राम सेवा के कामों में ग्रामीण स्त्री की साहसिकता तो प्रमाणित हुई ही है लेकिन आनेवाले अवरोध भी ऐसे पहाड़ों जैसे हैं कि अकेले संगठनों के बस में इन पहाड़ों को हिला पाना नहीं है। मुख्य अवरोधों में एक तो है उदारीकरण। रोजगारी के अवसर पैदा करने में उदारीकरण के चलते बहुत बड़ा धक्का लगा है इसके अलावा हस्तकला का कच्चा माल, निर्यात होने की नीति की वजह से महंगा हुआ है। और इसीलिए हाथ कारीगरी की चीज भी महंगी हुई है। बढ़ती जाती स्पर्धा के कारण बाजारों में टिके रहने के लिए बड़ी जहमत उठानी पड़ती है। डिजाइन की चोरी एक अलहादा समस्या है। स्क्रीन प्रिंटिंग में कांच की कढ़ाई, पैचवर्क, कलमकारी, बाटिक की नकल तो अब बाजार में आधी क़ीमत पर आ रही है। आधुनिक मार्केटिंग का खर्च गरीब कारीगरों को कब तक पुसाएगा यह भी एक सवाल है।

इसी तरह खेड़ा तथा मेहसाण जिले में खेती के काम में ''हार्वेस्टर'' जैसी मशीनों के उपयोग से खेत मजदूरों की रोजी छीनती जा रही है। साथ ही खेती में फसल की किस्म भी बदली है, नगदी फसल की ओर जाने से भी मजदूरों के लिए काम पाना कठिन होता जा रहा है।

सरकार की बार-बार बदलती नीति के चलते स्त्रियों पर उलट प्रभाव पड़ता है। स्त्रियों के दाकरा समूहों को आवंटित की गई जमीन सरकार को लौटानी पड़ी। स्वाश्रयी स्त्रियों की मेहनत, निवेश सब कुछ व्यर्थ गए।

स्त्रियों की सबसे बड़ी समस्या है उनके रोजगार का दर्ज होना। जो दर्ज नहीं होता वह योजना में नहीं आता। सरकारी आंकड़े तो 1/7 स्त्रियों को ही रोजगारकर्ता दर्ज़ करते हैं। रोजगारी में कमर तोड़नेवाली 1/6 स्त्रियां अभी भी (नॉन-वर्कर) बेरोजगार के रूप में दर्ज हो रही हैं। और हकीकत में ये 1/6 स्त्रियां ही देश के अर्थतंत्र को गर्म रखती है। राष्ट्रीय आय में योगदान देती हैं।

ये हैं दस करोड़ स्त्रियां; जिनके काम हैं खेती, पशु-पालन, दूध-उत्पादन, मत्स्योद्योग, वनीकरण, रेशम, बुनकरी, हाथ कारीगरी और तमाम तरह की सेवाएं। फिर आंकड़ों में उनकी उपेक्षा क्यों? यह निश्चय ही एक बुनियादी अन्याय है। आंकड़ों का विरोधाभास है जिसके चलते एक व्यापक और महत्वपूर्ण सवाल खड़ा होता है कि स्त्रियों का काम किसे कहा जाय? गोरादेवी का ही उदाहरण लें:

गोरादेवी के एक सामान्य कार्य दिवस की पड़ताल करते हैं: उत्तर प्रदेश के ठंडे पहाड़ी इलाके के उस गांव में आज बड़े सवेरे उठकर गोरा देवी ने घर की झाड़ू बुहारी की, चारा निकालकर भैंसों को डाला, गाय के गोठ से गोबर उठाकर साफ-सुफ किया, चूल्हा जलाया, बच्चों के लिए खाना बनाया, उन्हें खिलापिला स्कूल भेजा। दूध पीते बच्चे को पीठ पर बांधा। दिन के उजाले के कामों को निपटाना था। ससुरजी को खिला-पिलाकर उनकी मोतियाबिंद वाली आंख में दवाई डालकर खेत पर गईं। पहाड़ की



सीढ़ियोंवाली खेती, इसके अलावा अखरोट तथा सेवफल के पेड़ों की हिफाजत की। झरने से तीन चक्कर लगाकर छह घड़े पानी पीने के लिए भरे। उसमें से दो घड़े पशुओं के लिए थे। चारे की कटाई की, फिर चारा और ईंधन सिर पर उठाकर बच्चे को पीठ पर लिए पहाड़ चढ़ने लगी। जब तक घर पहुंची शाम हो चुकी थी। जल्दी से चूल्हे पर भात चढ़ाया, बच्चों को खिलापिला कर ढांक-ढूंककर सुलाया, ससुर को खाना खिलाया, पशुओं को चारा दिया और फिर गोरादेवी सो गईं। उनके पति तराई के शहर में एक लाटीर में नौकरी करते हैं। छुट्टी में आते हैं और जब आते हैं तो अपने दोस्तों के साथ घूमने चले जाते हैं। पहाड़ी देशों का अर्थतंत्र, अर्थशास्त्रियों का कहना है कि स्त्रियों की वजह से ही चलता है। वे लिखते भी हैं लेकिन स्त्रियों के भविष्य के बारे

में सोचते नहीं हैं और आयोजन भी नहीं करते हैं। इस प्रकार ये स्त्रियों की बड़ी गंभीर समस्या है।

गोरादेवियां बेरोजगार मानी जाती हैं। विशेष रूप से आंकड़ों की गिनती में। इस समस्या की ओर अब महिला अर्थशास्त्रियों ने दुनिया का ध्यान आकर्षित करना शुरू कर दिया है। लेकिन उसका परिणाम तो अभी बाकी ही है। आधुनिक अर्थशास्त्र तो नगदी पैसे के बदले होने वाले काम को ही काम मानता है। जबकि स्त्रियां तो अधिकतर अवैतनिक, असंगठित, घरखाता क्षेत्रों में काम करती हैं। इसलिए उनके हजारों काम "काम की गिनती में नहीं आते।" इसके अलावा परिवार सेवा के कामों पर तो कीमत का कोई लेबल नहीं होता है। गोरा देवी अंधे ससुर की सेवा करे इसका क्या कोई प्राइज लेबल हो सकता है? बैंगलोर जाकर बीमार सास की खड़े पैरों रातदिन सेवा करती हैं। सगुणा मद्रास के स्कूल में जाकर अध्यापक से जानकारी प्राप्त करके अपने बच्चे को घर में पढ़ाती हैं। गांधीनगर की शकीबहन अपने परिवार की सुख-सुविधा के लिए श्रीनाथजी की मन्नत मानती है (फलीभूत होती है)। मणिपुर की रानीदेवी पड़ोस की अनाथ बालिका को रोज खाना खिलाती है। ऐसे हैं भारतीय स्त्रियों के काम और उनके जीवन। जीवन की विराट चादर को निरपेक्ष भाव से संस्कारगत् ज्ञाता बनकर बुनती जाती हैं तभी भारत वर्ष के संसार में घर-घर रोज शाम को दीया जलता है। इन भारतीय स्त्रियों के कामों का हिसाब लगाने बैठें तो ईश्वर का भी दिवाला पिट जाएगा। ये देवियां किसी बदले की उम्मीद नहीं करतीं लेकिन जब उनकी एकदम ही उपेक्षा होती है और वे दमन एवं अत्याचार की शिकार होती हैं, समाज और सरकार दोनों से

पिटती हैं तब उनकी आत्मा कलप उठती है।

अलबत्ता, भारत के संविधान में तो स्त्री–गौरव तथा स्त्री–समानता को बुनियादी माना गया है। इसीलिए इसकी पुकार व्यर्थ नहीं गई है। इन पिछले दशकों में उसने एक आवाज प्राप्त की है। निर्बल और सबल स्त्रियां एकत्रित हुई हैं। पुरुषों से सहयोग मिला है। परिणामस्वरूप स्त्री सुरक्षात्मक कानून बने हैं। समानता के सिद्धान्त पर आधारित शिक्षा–तालीम, सांस्कृतिक क्षेत्र में कई तरह की सुविधाएं पैदा की गई हैं। इनका लाभ स्त्रियां उत्साह से ले रही हैं। लेकिन अभी बहुत कुछ बाकी है इस बात को कैसे भुलाया जा सकता है?

"सेवा" के सदस्यों और "सेवा" की गतिविधियों को स्पष्ट रूप से शहर तथा गांवों में अलग करना मुश्किल है, लगभग असंभव। और फिर ऐसे विभाजन की आश्यकता भी कितनी है यह सवाल भी सहज ही उठता है। गांव तोड़कर शहर बने और शहर की कमाई गांव पैदा करे, दोनों एक दूसरे पर आधारित हों, इसका विश्वास दिलानेवाली "सेवा" की सदस्य, नेत्री अंबाबहन के जीवन को कुछ विस्तार से देखा जाए–

सड़क से कागज बीननेवाली अंबाबहन आज इस पृथ्वी पर मौजूद नहीं हैं लेकिन उनके ये शब्द "सेवा" में अभी भी गूंजते रहते हैं: एक टी.वी. इंटरव्यू में आखिर की ओर उन्होंने कहा था कि, "लेकिन अब तो हम कागज में से "लॉटऑफ" रुपए कमाते हैं।" किसी को लगेगा कि लॉटऑफ कैसे कमाते होंगे और वो भी कागज के गोचों से! लेकिन गरीब के लिए तो खाते–पीते थोड़े से पैसों का बच जाना भी बहुत है। अंबाबहन की आपबीती कुछ यों है:

'मेरा जन्म ऊंझा के पास के विट्ठोल गांव में हुआ था। मेरे पिता चार भाई थे। उनके बीच मैं अकेली बच्ची थी। इसलिए कितने लाड़-प्यार में पली होऊंगी! मेरी मां मुझे गोद में उठाकर मेरी ससुराल पाटण गांव आई थी। यों तो मेरे पिता पहले अहमदाबाद की एक मिल में नौकरी करते थे। उन्होंने मिल की नौकरी छोड़कर पाटण में धंधा शुरू किया। धंधा हड्डियों का था यानी कि मरे हुए पशुओं की हड्डियां एकत्रित करके डिब्बा बंद करके विदेश भेजते थे। चार जनों के साझे में धंधा बहुत बढ़िया चल रहा था। रहने के लिए हमारा अपना मकान था। मेरी मां के पास तीन-तीन जोड़ी अलग अलग डिजाइन के जेवर थे, घर में पशु, बैल थे। गांव में पहले के जमाने में लड़कियों को कहां पढ़ाया जाता था, लेकिन मेरे पिताजी ने कहा कि मैं तो अंबा को पढ़ाऊंगा। मैं बस्ता टांगकर स्कूल जाती और गांव में सब लोग देखते रहते। लेकिन कुदरत को या किसी न किसी को यह मंजूर नहीं होगा या पता नहीं क्या?

''एक साल व्यापार में बड़ी मंदी आ गई। हड्डियां मुफ्त के भाव से कहीं से आने लगीं। (शायद विदेश से आयात हुई) इसलिए हड्डियां कम कीमत में बेच देनी पड़ी, मेरे पिता को एक लाख रुपए का घाटा हुआ। तब तो एक लाख की कितनी कीमत थी। सब कुछ बेच देना पड़ा और ऊपर से पैसे भरने पड़े मकान भी बेचना पड़ा और फिर झोंपड़ी में रहने को आ गए। मेरे पिताजी बीमार हो गए। मां अकेली खेत में गुड़ाई पर जाती थी। मैंने और मेरी बहन स्कूल छोड़कर मां के साथ खेत में जाना शुरू कर दिया। मेरे पिता ने तो काम पर जाना बिलकुल बंद कर दिया। मेरी मां खेत में गेंहू, ज्वार, बाजरा, तंबाकू लगाने जाती थी

उसमें हम *उसकी* सहायता करते थे। हमने पांच बीघा जमीन ली थी। *उस पर* मेहनत करके हम कर्ज चुकाते गए। कर्ज उतारा तब जाकर हमने कुछ सांस ली। फिर एक माताजी का घर पंद्रह सौ रुपए में लिया कि उसी बीच मेरा एक भाई खसरे में मर गया, एक भाई जो बचा था वो पढ़ता भी था और कमाता भी था। तब जाकर हम खाने लायक कमा पाते थे।

शादी! शादी तो मेरी गोद में लेकर की गई थी। घरवाले शहर में कागज बीनते थे और मिल में एवजी का काम करते थे। ससुराल वाले अच्छे स्वभाव के थे। ससुरजी थोड़े-थोड़े दिनों में गांव में खेती करते हुए हमारे हाल चाल पूछने आते थे।

मैंने नगरी मिल में काम करना शुरु किया। वहां काम करना रास नहीं आया इस लिए दाल मिल में जगह प्राप्त की। वह कारखाना अच्छा था। कानून कायदेवाला था। सेठ भी अच्छा था। सुबह सात बजे पहुंच जाना पड़ता था, और साढ़े तीन बजे छुट्टी होती थी। ओवर टाईम करने पर सेठ पांच रुपए देता था। तभी अचानक से मंदी आ जाने से सेठवाला काम बंद हो गया। मिल बेच दी गई। ऊपर से केस भी हो गया। हम पंद्रह स्त्रियों को दो-चार हजार का मुआवजा मिला। सत्रह साल तक ऐसी नौकरी की अब क्या? खुदरा काम कर लेती हूं।

मेरे चार बच्चे हैं उसमें एक बिटिया है। जचकी तो मेरी सास ही करवाती थी, इस लिए मेरे बच्चे कब पैदा हुए और कब बड़े हुए इस बात का मुझे पता ही नहीं चला।

और फिर इस बीच एक ऐसी घटना घटी जो एक तरह से हमारी मंद बुद्धि और हमारी मूर्खता का प्रतीक है। किसी की शादी में जाना था। मेरे पति जहां काम करते थे, वहां छुट्टी नहीं मिलती

थी। छुट्टी पाने के लिए उंगली पर ब्लेड से काट लिया और खून टपकती उंगली लेकर सेठ के पास पहुंचे और उनको दिखाया, फिर खुश होते हुए शादी में गए। वहां नाचे-गाए, खाया-पिया लेकिन तीसरे दिन धनुर्वात हो गया और तुरंत मृत्यु हो गई। लाश जब अहमदाबाद आई तब मुझे पता चला।

मुझको जिंदगी तो गुजारनी ही थी। मिल बंद हो गई। पति की मृत्यु हो गई और बच्चे अभी छोटे ही थे। कैसी करुण स्थिति थी। खुद अपने पर दया मुझको ही करनी थी। मेरे पति पहले चारपाई बुनने की निवाड़ बनाते थे। जो मैने उन्हे बनाते देखा था स्वयं बनाया नहीं था। लेकिन बन जाएगा करके काम शुरु किया। रोज का तीन किलो सूत कातती थी। रेलवे के कोयले सस्ते मिल जाते थे उन्हे झोले में भर कर रोज सुबह मोहल्ले-मोहल्ले में बेचती थी। डेढ़ रुपए के झोले को ढ़ाई रुपए में बेचती थी उसमें से चार-पांच रुपए मिल जाते थे। उसमें सूत के बीस-पच्चीस मिलाकर घर चलाती थी।

उस समय 'सेवा' में मेरी ककिया सास 'डाही' आती-जाती थीं। उन्होंने मुझे संगठन से जोड़ा। मैं प्रशिक्षण लेने गई। मुझसे वे नाम पूछते थे तो मैं नाम नहीं बोल पाती थी। ये कैसी तालीम है कि सारा दिन नाम ही बुलवाते रहे। सच है, तीसरे दिन जाकर अपना नाम बोलने की हिम्मत आई। और फिर तो समझिए कि हिम्मत की गाड़ी धड़धड़ाती हुई चल निकली। तब "सेवा-बैंक" की शुरूआत हुई थी। मैंने बचत की, फिर पांच सौ रुपए का लोन लिया। सूत के थैले का पांच सौ रुपए का बिल मैंने बनाया था। पांच मन के उस बोरे में कुछ नहीं तो भी रुपए 1000/- से 1500/-की कमाई मैंने की होगी। महीने भर में पांच मन का

एक बोरा मैं समाप्त कर चुकी थी। फिर तो छह महीने में मैंने लोन चुका दिया। फिर से मुझे रु. 1500/– का ऋण दिया गया। फिर से रु. 3000/– का ऋण। इस समय मेरा रु. 10,000/– का ऋण चल रहा है। उस समय मैंने मकान लिया और उसकी मरम्मत करवाई।

फिर तो रोज "सेवा" में आने का चस्का लग गया। सूत और कोयले का आधा काम मैंने अपनी बहू को सिखा दिया। मुझे कागज बीननेवाली स्त्रियों में दिलचस्पी आने लगी। पहले सोरठ मिल में, और फिर लाल मिल में अन्य दो स्त्रियां और मैं, मिलाकर हम तीन कागज बीनने जाने लगे।

मेरे पति की जगह मुझे लिया जाना चाहिए था लेकिन मुझे नहीं लिया गया। उसका साहब अच्छा नहीं था। वो मुझे अंदर बुलाता। मैंने मन ही मन ठान लिया कि एक दिन मैं उसे दिखा दूंगी।

"सेवा" में हीरा बहन, डाही बहन और हम मोहल्लों में घूमकर संगठन बनाते थे। स्त्रियों के लिए तालीम आयोजित करते थे। बार-बार जोर से नाम बुलवाते थे और मजा आता था। मेरे हाथों कई स्त्रियों को काम मिला। मैं तो समझती हूं कि किसी को काम दिलाने जैसा पुण्य इस दुनिया में कोई नहीं है।

व्यापारी लोग हमारी कागज समिति के पीछे पड़ गए थे। 'सेवा' के माध्यम से कितनी मेहनत के बाद सरकारी दफ्तरों की कचरे की टोकरी से कागज उठा लेने का अधिकार देने वाला जी. आर. (सरकारी प्रस्ताव) हमें प्राप्त हुआ था। यह बात मालिकों को बहुत चुभती थी। एक बार तो वे इस तरह हमारे सामने खड़े हो गए कि एक हफ्ते तक हमारा काम बंद हो गया। व्यापारी लोग

हमारे खिलाफ 'स्टे' ले आए। कचहरी में लफंड़े बड़े ही बुरे होते हैं। फिर तो हम भी यानी कि हमारी समिति भी व्यापारी हो गई। टेंडर भर कर हमने कांट्रेक्ट लिया, डिपॉजिट जमा की। फिलहाल 1325 छोटे-मोटे दफ्तरों से हम कागज उठाते हैं, कितनी सारी स्त्रियों को काम मिला हुआ है। फिर से झगड़ा और फिर से समझौता। अब तो हम पक्के हो गएं हैं। दूसरों के झगड़े निपटानें में मेरा पहला नंबर है। पहले तो दफ्तरों में दाखिल नहीं होने देते थे। अब तो मुख्यमंत्री के चेम्बर में जा चढ़ते हैं। वो हमें बिठातें हैं सुनते हैं, काम में यथा समय हमारी मदद करते हैं।

घर हमारी मालिकी का है मेरे अपने नाम पर है। गांव में भी मैंने एक घर लिया है। अपनी कमाई से मैंने अपने गांव में हरिजन बासे और भंगी बासे में कुएं खुदवा दिए हैं। "सेवा" की सहायता से बंद पड़े स्कूल को फिर से खुलवा दिया है। महिला दुग्ध समिति के प्रयत्न जारी है।

अब इन अम्बा बहन को शहर का कहा जाए कि गांव का? कमाई, रहना सब कुछ शहर में लेकिन दिल अभी भी गांव में, अपने वतन में।

पूर्ण रोजगारी

"सेवा" संस्था 1972 में स्थापित एक मजदूर संगठन है। इसकी सदस्य संख्या 2,12,016 है। गुजरात में 1,62,781 हैं। इसके अलावा मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, केरल, तथा विदेश में यानी दक्षिण अफ्रीका में "सेवा" की सभी भगिनी "सेवु" है।

66 प्रतिशत *सदस्य* ग्रामीण और 34 प्रतिशत शहरी हैं। धंधा-*मजदूरी की* तादाद के हिसाब से 7 फेरी-टोकरेवाले, 34 *प्रतिशत* घरखाता तथा 59 प्रतिशत मेहनत मजदूरी की सेवा सुल*भ* कराने वाली स्त्रियां। जाति के मुताबिक 1/2 हरिजन, 1/2 मुस्लिम। "सेवा" यूनियन के अलावा विविध किस्म की सहकारी समितियों के माध्यम से भी श्रमिक स्त्रियों को संगठित करती है। आज "सेवा" द्वारा रचित 71 सहकारी समितियां चल रही हैं। ये सब समितियां, मजदूर समितियां, औद्योगिक समितियां तथा सेवा समितियां। इनमें सिरमौर है "महिला सेवा सहकारी बैंक लि.", प्यारा नाम है "सेवा-बैंक"।

यूनियन तथा सहकारी का संलग्न संबंध तो "सेवा" की रणनीति रही है। अर्थतंत्र में असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों की उपस्थिति को दृश्यमान करने एवं समस्याओं को उठाने में ये संलग्न नीति हमारे लिए उपकारक साबित हुई है।

"सेवा" की हर गतिविधि का ध्येय दो लक्ष्यों को हासिल करने का रहता है: पूर्ण रोजगार तथा स्वावलंबन। पूर्ण रोजगार यानी ऐसा रोजगार जिसमें "सेवा" के सदस्य को पारिवारिक स्तर पर आय का आश्वासन हो, सिखाने का आश्वासन हो और सामाजिक सुरक्षा का आश्वासन हो। सामाजिक सुरक्षा यानी कि कम से कम-आरोग्य, बालसेवा तथा निवास। यह हुई पूर्ण रोजगारी। जब तक इसकी प्राप्ति न हो तब तक "सेवा" को चैन नहीं मिल सकता। आखिर तो पूर्ण रोजगारी किस लिए? स्वावलंबन ही अंतिम ध्येय है। स्वावलंबन दो किस्म का होता है: एक तो आर्थिक तौर पर स्वावलंबन और दूसरे निर्णय लेने के मामले में स्वावलंबन। निजी जीवन में तथा सामूहिक स्तर पर

निर्णय लेने की, स्वतंत्र विचार शक्ति ही आजादी का सही तापमान यंत्र है।

बीड़ी बनानेवाली कमला, ''सेवा'' की काबिल यूनियन संगठक, अपने पदमशाली समाज की अध्यक्ष हैं। वे तंबाकू के अंतरराष्ट्रीय यूनियन की सदस्य चुनी गई हैं। मेकगील विश्वविद्यालय के विकास संबंधित विषय के अध्ययनक्रम में इस कमला को स्थान प्राप्त है। इंटरनेशनल विमेन्स कमेटी (हांगकांग) की कार्यकारिणी में बैठने वाली दरियापुर की करीमाबीबी, स्वयं चिंदी कामगार हैं और जो लेबर कमिश्नर के सम्मुख भाव बढ़ोतरी संबंधित चर्चा में, सामनेवाले पक्ष में मालिकों के प्रतिनिधि अपने सगे भाई के खिलाफ बिंदास कामगारों का केस लड़ती हैं, तब मुझे मजूर महाजन की संस्थापिका अनसूया बहन की याद आ जाती है।

जब स्त्रियां आर्थिक स्तर पर संगठित होती हैं तब उनका आत्मदर्शन बदलता है। वह स्वयं ''कामगार'', ''उत्पादक'', ''आंत्रप्रेनर'', ''व्यापारी'' हैं, केवल ''गृहिणी'' अथवा किसी की पत्नी या मां नहीं देश के गरमागरम अर्थतंत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान है और इसीलिए उसमें हिस्सा मांगने का एवं उसे आकार देने का उन्हें अधिकार है, इस बात की प्रतीति उनको है। या कहो कि ''सेवा'' में करवाई जाती है। परिणामस्वरूप सामूहिक स्तर पर जीवन के संघर्ष एवं विकास की बुनियाद डलती है। अलबत्ता, इस विकास यात्रा में कुछ समस्याएं सुलझती हैं लेकिन कुछ नई भी उठ खड़ी होती हैं। संघर्ष जारी रहता है।

अपनी मुख्यधारा में होने की गिनती करवाने के लिए, ''सेवा'' ने श्रमजीवियों की बुनियादी 'ग्रासरूट' समस्याओं को हमेशा राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर के साथ जोड़ने की व्यूहरचना रखी है,

जैसे *विश्वगुर्जरी* हर साल ऐसे संकलनों का आयोजन करती है।

लड़ाका रुड़ीबहन प्रधानमंत्रीजी से भी लड़ आई, फिर ऑस्ट्रेलिया में हुई अंतरराष्ट्रीय वन सुरक्षा परिषद में भी उन्होंने कहा कि, "जंगलों का स्त्रीकरण करिए।" जंगल स्त्रियों को सौंप दीजिए। वनवासी स्त्रियों के हाथ में वह अधिक सुरक्षित रहेगा। तंबाकू की ख़ली कामगार बशीरन एक सार्वजनिक सभा में श्रीमती क्लिंटन से यह कहते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाई कि मैं अब खली मालिक या पुलिस या अपने पति से नहीं डरती। राणबाई के मुंह से "सेवा" की शक्ति पैकेट वाली योजना का वर्णन सुनकर आयलैण्ड की अध्यक्ष मेरी रोबिन्सन तो मुग्ध हो उठी थीं।

नए देश दक्षिण अफ्रीका के संविधान में (स्ट्रीट वेंडिंग ने) मोहल्लों में फेरी लगाने को बुनियादी अधिकार के रूप में स्थापित करने में हमारी डर्बन "सेवा" ("सेवु") का ही योगदान रहा है। दिल्ली में "विमेन्स वर्ल्ड बैंकिंग" का एक अंतरराष्ट्रीय फोरम है। इस फोरम में नीदरलैंड, जर्मनी, अमेरिका सहित पंद्रह देशों के वित्तमंत्रियों का जो पॉलिसी फोरम हुआ उसके उद्घाटन के अवसर पर हमारे तीन दरवाजा, पूरी बाजार की चंदाबहन जागरिया ने प्रमुख वक्तव्य दिया। उनके वक्तव्य के उदाहरण तीनों दिनों की बैठकों में लगातार चर्चा में रहे। वीडियो सेवा की श्रमजीवी वीडियो टीम नियमित रूप से बंगलादेश में प्रशिक्षण देने जाती है। पाकिस्तान की अख़्तरबानों हर साल कपड़े पर वेजिटेबल डिजाइन तकनीक का प्रशिक्षण लेने के लिए अपनी दस्तकार टीम को यहां की छीपा स्त्रियों की आबोदान समिति के पास भेजती हैं। न्यूयॉर्क की शहरी गरीबी के उपाय खोजने के लिए न्यूयॉर्क की सिटी काऊंसिल मुझसे पूछती है: गरीबी निवारण में गरीब लोगों की

भागीदारी कैसे हो सकती है? इस सबकी वजह क्या है? वजह ये है कि दुनिया गरीबी का हल खोजती है, हो सकता है इसका उत्तर "सेवा" में मिल जाए।

उपर्युक्त दो ठोस लक्ष्यों तक पहुंचने के लिए "सेवा" की गतिविधियों में कुछेक प्रमुख गतिविधियां भी समाहित हैं: ग्राम विकास, बैंकिंग, आरोग्य, बाल-सेवा, निवास, बीमा, तालीम, शिक्षा, कानूनी सहायता, सहकारी संगठनों का विकास तथा राष्ट्रीय संकलनों के माध्यम से नीति में बदलाव।

सदस्य स्त्रियों के लिए "सेवा" क्या है? किन किन विविध रूपों में वे "सेवा" को देखती हैं ये बात एक स्वमूल्यांकन में से उभरकर सामने आई थी।

"सेवा" यानी हमीं लोग, कोई पराए थोड़े ही हैं इसमें।"

"सेवा" हमारे लिए तो भगवान है, हमारी समिति पुजारी है और हम स्त्रियां सेविकाएं हैं।"

"सेवा" एक इमारत है। हम कार्यकर्ता लोग उसकी ईंटें और चुनाई हैं। इमारत सभी को आश्रय देती है।"

"हम मोर हैं। राष्ट्रीय पक्षी की तरह हम राष्ट्रीय हैं। हम गौरवांवित हैं।"

"सेवा" के सांस्थानिक ढ़ांचे को अच्छे से समझा पाना कठिन है। जैसे-जैसे आवश्यकता महसूस होती गई उसी हिसाब से गतिविधियां शुरु हुईं, विकसित हुईं और फिर स्वायत्त हो गईं। "सेवा" वटवृक्ष की तरह है कहना चाहिए कि वह इमारत नहीं है कि सीढ़ियां, मंजिलें, छादन, छत सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे। "सेवा" के वटवृक्ष का तना मजबूत है, उसकी अनगिनत बरोहें हैं, लाखों पत्तें हैं, उसे काटेंगे तो भी वह मरेगा नहीं।

नित्य नई हवाएं "सेवा" में चलती रहती हैं। बाहर बड़ा भारी समुद्र है। स्त्रियां उलीचती हैं समुद्र को उसका मंथन करके अमृत निकालती हैं। समुद्र में बहुत कुछ है उनके ढेरों अनुभव, आवश्यकताएं, अपेक्षाएं, सपने, डर, चिंताएं, मैत्री और दुश्मनी। नित नई समितियां रची जाती हैं, इनमें से कुछ दर्ज़ करवाने जाते हैं कुछ पीछे हट करते हैं। बनासकांठा के 100 गांवों की द्वाकरा सहकारी योजना है। इसके अंतर्गत गरीब स्त्रियां अपनी उत्पादक समितियां बनाती हैं। यह फेडरेशन हस्तकला कारीगर स्त्रियों का है। द्वाकरा समूह द्वारा रचित फेडरेशन का आज, कुल उत्पादन तथा बिक्री के माध्यम से कोई डेढ़ करोड़ का धंधा होने जा रहा है। जैसे एक कारपोरेट कंपनी ही देख लीजिए। उस पर नियंत्रण मगर किसी एक का न होकर, सामूहिक स्तर पर सभी सदस्यों का ही होता है। मुनाफा किसी एक की जेब में नहीं जाता बल्कि बंट जाता है तमाम सदस्यों के बीच। बाजार में क्या यह उपस्थिति दर्ज हुए बिना रह सकती है?

इस तमाम सारे उत्साह के पीछे अनेकानेक निष्फलताएं, हताशाएं, अधीरताएं छिपी हुई हैं, यह हकीकत भी उतनी ही सही है। श्रमिक स्त्रियां कोई एक समरस जनता नहीं है। जाति से, वर्ग से, धंधे से, नाम से, पढ़ाई से, रहन-सहन से वे भिन्न-भिन्न हैं। सर्वसाधारण बात सिर्फ यह है कि वे सब गरीब हैं और स्त्रियां हैं। गरीबी की पीड़ा और स्त्री-देह की सीमा का दर्द सभी के लिए एक सा बाधक है। उनके लिए संगठित रह पाना बहुत कठिन होता है। कम साधनों पर सबकी पंडपेश।

"सेवा" के वातावरण से घर जाने पर पुरुष वर्ग द्वारा स्थापित वातावरण को झेलना होता है—इन दोनों के बीच संतुलन बिठाकर

अपनी राह को अपनाना उनके लिए बहुत कठिन होता है। संघशक्ति को विकसित किया है, थोड़ा परचा भी दिया है। और इसके चलते उनके जीवन कुछ ऊपर उठे हैं यह भी सच है लेकिन बाह्य शक्तियां तो अनियंत्रित ही हैं। इसलिए कभी भी रोजगारी के अवसर छिनते चले जाते हैं। एक ओर तो मजदूरी की दरें बढ़वाते हैं लेकिन दूसरी ओर रुपए की कीमत गिरती जा रही है। ठेकेदारी प्रणाली, अधिकारियों का नियंत्रण, पुलिस की दादागिरी, धर्म के नाम पर जहरीला प्रचार एक गरीब की छोटी सी आय में से बहुत बड़ा हिस्सा छीन लेता आ रहा है। रक्षक ही जब भक्षक बन जाए तो फिर गरीब स्त्रियां आर्थिक एवं सामाजिक तौर पर टूट जाती हैं। सामने कोई उज्वल भविष्य नजर नहीं आता। गरीब स्त्रियों के लिए न तो नए तकनीकी साधन है और न उनके परीक्षण की व्यवस्था ही है। नए ज्ञान के द्वार अच्छे से बंद हैं। वही चूल्हे और पिसाई और वही कुंए, वही उबारे लाखों गरीब स्त्रियों के भाग्य में तो अभी भी लिखें हैं। गरीबी, निरक्षरता, कम उत्पादकता, भेदभावयुक्त कम वेतन, पेट पालने का दैनंदिन संघर्ष, अधिक बच्चे, कमजोर स्वास्थ्य और बढ़ती जाती बेरोजगारी—इस सबका यह दुष्चक्र गरीब को और अधिक गरीबी की ओर ले जाता है।

इस दुष्चक्र को कहीं न कहीं से तोड़ना तो पड़ेगा ही। बीच में जबरदस्त हस्तक्षेप करके गरीबी के चक्र को कहीं न कहीं तो रोकना ही होगा। गरीबों के अपने संगठनों के होने की अनिवार्यता से तो इंकार नहीं किया जा सकता है लेकिन उतना ही पर्याप्त नहीं है। अपने अकेले बूते वे कितना लड़ेंगे—उन्हें सहारे की बड़ी आवश्यकता है। बाहर के बड़े प्रभावी हस्तक्षेप का होना बहुत

जरूरी है। सिर्फ सरकारी ही नहीं बल्कि समूचे समाज के सहारे की। तभी लोकतांत्रिक आजादी का लाभ जनता को, लोगों को, मिला माना जाएगा।

प्रभावी एवं बड़ी संख्या वाले गरीबों के संगठन को देखकर सारे ही राजनीतिक दल ललचाते हैं। उनसे लाभ उठाना चाहते हैं ऐसी स्थिति में "सेवा" को तो असिधारा पर चलना ही है। गलती से भी किसी एक दल की ओर झुकाव नजर आया कि बाकी सारे पक्ष विरोधी हो जाएंगे। इसके अलावा संयम बरतने में जरा भी चूक हो जाने पर निश्चय ही "सेवा" ने मार भी खाई है और इससे सीखने को भी मिला है।

आरोग्य

गुजरात की श्रमजीवी स्त्रियां अपने स्वास्थ्य को किस तरह देखती हैं? गल्ला बाजार की सिर पर बोझा ढोनेवालियों का कमर और पैर का दर्द तो लगा ही रहता है। "मुझे तो बस जमीन पर फैलकर सोते ही रहने का मन करता है।" टूट-फूट में लाए गए सिमेंट के बोरों को नया करते हुए स्त्रियां शिकायत करती हैं कि उनकी उंगलियां भोथरी हो जाती हैं, आंखें लगातार जलती रहती हैं, "गोद के मेरे बच्चे को इस सिमेंट की धूल से कोई तो बचा लो।" झोंपड़ों की निवासी स्त्रियां सिविल अस्पताल के चक्कर काटने से तंग आ जाती हैं, "मेरा दिन टूटता है, उसका क्या?" गांव की कारीगर स्त्रियों की पीठ दर्द से फटती है और आंखें दुखती हैं, पत्थर फोड़नेवालों को भी पीठ दर्द सताता है।

"खानगी डॉक्टर बहुत पैसा लेते हैं।" विशेष ढंग से छीले गए मूंगफली के दाने (एच.पी.एस.) गुजरात को विदेशी हुंडावन दिलवाते हैं यह तो सही है लेकिन इन दानों को स्त्रियां अपने होठों से छीलती हैं ताकि बीज का विशिष्ट अंकुर जस का तस बना रहे। लेकिन इस प्रक्रिया में इन स्त्रियों के होंठ इस तरह छिल जाते हैं कि सीजन के दौरान एक कप चाय भी वे नहीं पी पातीं। डोडे छीलनेवाली (कपास के) स्त्रियों की उंगलियां कट जाती हैं, कपास की गरमी के चलते मासिक स्राव अनियमित हो जाता है। माल से लदे ठेले को खींचनेवाली स्त्रियों को चलते-चलते गर्भपात हो जाता है, चौराहे पर घुटने के टूट जाने की दुर्घटनाएं तो जैसे आम बात है। मानसिक प्रताडणा भी बहुत है। बेरोजगारी एवं गरीबी की वजह से लगातार चिंता बनी रहती है कि कल अगर काम न मिला तो बच्चों को खिलाएंगे क्या? मालभत्ता का अभाव, पति की बुरी लतें, अजाने एकाकी कार्यक्षेत्र में बलात्कार का सदा सिर पर झूलता भय, सूदखोरों की-ठेकेदारों की परेशानी, बार-बार वही की वही गौरवभंग की घटनाएं—इन तमाम वजहों से भी गरीब श्रमजीवियों के मानसिक भावतंत्र भी सदा तंग रहते हैं।

खाजाबीबी चिंदी के खोल की सिलाई का काम करती थीं। चार बच्चे छोड़कर उनके पति परलोक सिधार गए थे। वे मिल से आनेवाले, फालतू और किस्म किस्म के कपड़ों को जोड़कर उनको सिलती हैं और पैचवर्क का खोल बनाती हैं। उनकी तमाम साथी स्त्रियों ने मिलकर "सबीना" नाम से एक समिति बनाई, ताकि स्थानीय व्यापारी नग के हिसाब से मजदूरी देकर उनका जो शोषण करते थे वो न करने पाएं और वे सीधे ही बाजार में बिक्री

कर सकें।

काफी लंबे समय से खाजाबीबी क्षय की बीमारी से पीड़ित थीं। जैसे ही वे "सेवा" की आरोग्य टीम से मिलीं कि फौरन उनको टी.बी. अस्पताल ले जाकर दवाइयां सुलभ करवा दी गईं। लेकिन उनकी बीमारी अंतिम चरण में होने के कारण काफी देर हो चुकी थी। खाजाबीबी अपने बच्चों के अच्छे भविष्य के लिए जीवित रहना चाहती थीं मगर वे नहीं बच पाईं।

भानुबहन बीड़ी कामगार हैं, "सेवा" की आगेवान उनको समझाती हैं कि "जब तक हम काम करते रह पाएंगे तब तक हम अच्छी तरह से जी सकेंगे।" दूसरे बार-बार स्त्रियां बताती हैं कि, "बहन, हम पेट के लिए काम करते हैं।"

गांव की बात करें या झोंपड़-पट्टी की, स्त्रियां लगातार काम तथा काम की सुरक्षा की, यानी कि आय की सुरक्षा की खोज में रहती हैं। इसके अलावा स्त्रियों को खुराक संबंधित और सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता है। सामाजिक सुरक्षा में स्त्रियों को कम से कम स्वास्थ्य सेवा, बाल-सेवा तथा आवास की आवश्यकता है। गरीब श्रमजीवी स्त्रियां परिवार नियोजन को अधिक प्राथमिकता नहीं देतीं। सच पूछा जाए तो परिवार नियोजन को लेकर गरीब स्त्रियों के विचार पढ़े-लिखे मध्य वर्ग की तुलना में काफी भिन्न है। सुमनबहन दातौन बेचती हैं और स्वास्थ्य सेविका हैं, इनका कहना है कि "हमारे यहां ऐसा है बहन, कि पांच छह बच्चे तो चाहिए ही। ताकि तीन-चार तो कम से कम जिएं ही। जब हम काम पर जाते हैं तो बच्चों को साथ ले जाते हैं। एक को कैंया लिए रहते हैं, एक उंगली पकड़े रहता है और एक भीतर। हम गरीब स्त्रियां इसी तरह जीती हैं।

गरीब स्त्रियां अपने जीवन में संघर्ष करती रहती हैं और अपने जैसे कामगारों के बीच में रहती हैं। उनका परिवार तो बड़ा होता है और बाल-मृत्यु की तादाद भी अधिक होती है। ऐसा तो उनके जीवन में रोज ही होता देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में उनके रूढ़ हो चुके विचारों को बदलने में समय लगता है। उनके दैनंदिन अनुभव में बदलाव आता है तभी वे सोचना शुरू करती हैं।

महिला समूह, स्वास्थ्य सेवा सुलभ करानेवाली संस्थाओं एवं संशोधन के माध्यम से पता चलता है कि अपने परिवार का नियोजन स्त्रियों के हाथ में नहीं है। जिस तरह सामाजिक और आर्थिक स्थितियां भी उनके हाथ में नहीं हैं। उसी तरह उनका अपना शरीर भी उनके हाथ में नहीं है। स्त्रियों की यही हक़ीकत है, जिसको वे स्वीकार करती हैं। हमारे पुरुष प्रधान समाज में, हमारे देश की पारंपरिक संस्कृति को देखते हुए ये सारी चीज़ें पुरुषों के हाथ में रहती हैं।

ऐसी स्थितियों को बदलने की प्रक्रिया धीमी और कठिन है। निजी एवं सामाजिक स्तर पर बदलाव की आवश्यकता है और वो हो सकता है। स्त्रियां आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हों और उन्हें काम तथा आय का आश्वासन मिले तो ही समाज में परिवर्तन हो सकता है। वे अपने भविष्य के लिए भी आयोजन करती हैं। ऐसा परिवर्तन आता है तब स्त्रियां अपनी गिनती कर पाती हैं, परिवार में एवं समाज में उनका महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। स्त्रियां एकत्रित होकर संगठित होती हैं और अपनी समस्याओं को स्वयं ही हल करने लगती हैं, समाज में तथा अर्थतंत्र में भी उनकी आगेवानी बढ़ती है।

"सेवा" द्वारा किया गया एक अध्ययन बताता है कि संगठन करने से स्त्रियों के निजी दृष्टिकोण में बदलाव आता है इसकी वजह यह है कि स्त्रियां घर से बाहर निकल कर दूसरी स्त्रियों से मिलती हैं। नई जानकारी प्राप्त करती हैं और बाहर की दुनिया में उपलब्ध सेवाओं का लाभ उठाने लगती है। इस अध्ययन से हमें पता चलता है कि कार्य सुरक्षा मिलने से स्त्रियां आशावादी होती हैं और अपने भविष्य का आयोजन करने लगती हैं।

इन स्त्रियों के पास नियोजन के संबंध में निर्णय शक्ति नहीं होती है लेकिन निजी तथा सरकारी आरोग्य कार्यकर्ता के साथ संपर्क में आती हैं तब उनका बर्ताव और रुख स्त्रियों की तरफ नहीं होता। वे स्त्रियों को लाचार, अज्ञानी और दयादान की आवश्यकता वालों के रूप में देखते हैं। ये कार्यकर्ता स्त्रियों के स्वास्थ्य के अनुभवों और आवश्यकताओं को समझने का प्रयत्न नहीं करते।

स्वास्थ्य या तंदुरस्ती कोई ऐसी चीज तो नहीं कि कोई किसी को भेंट में दे सके। "सेवा" ने बड़े पैमाने पर आरोग्य सेविकाओं को तैयार किया है। जो स्वयं ही अपने गांव की स्त्रियों की प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा कर सकें। उनकी तालीम लगातार और घनिष्ठ रूप से हुई है। आरोग्य की शिक्षा भी प्रदान करते हैं और तिमारदारी एवं दवाइयां भी देते हैं। जिन गांवों में दाइयों को तालीम देकर आरोग्य सेविका के रूप में तैयार किया है वहां आरोग्य कार्य अधिक अच्छी तरह से खिल उठा है।

आरोग्य शिक्षा में पोषक आहार का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है लेकिन ऐसा पौष्टिक आहार मिलना भी तो चाहिए। राशन की दुकानें गांव में थोड़ी ही होती हैं। खरीद शक्ति भी तो होनी चाहिए।

बनासकांठा के सांतलपुर के गांवों में एक शक्ति-पैकेट योजना पिछले पांच सालों से चलाई जा रही है और इस योजना का अनुभव काफी उपयोगी साबित हुआ है। गांव की बचत समितियां आटा, दाल, तेल, प्याज, आलू, गुड़, चाय के पैकेट बनाकर न मुनाफा न घाटा के स्तर पर सदस्य स्त्रियों को सुलभ कराती हैं। एकदम सरहद का गांव है आंतरनेश। वहां की आगेवान राणबहन का कहना है कि शक्ति पैकेट बेचने का पुण्य-कार्य मैं करती हूं। सीधा–सामान के साथ में आरोग्य की पुड़िया भी देती हूं। स्त्रियों से कहा कि हां गुड़ खाइए, जो मेहनत करते हैं वे गुड़ खाते हैं।

आणंद तहसील के गांवों की बचत समितियां घरों (मिट्टी के) की मरम्मत एवं सुधार के लिए ऋण देती हैं। देशी ढंग के शौचालय एवं स्नानघर बनाकर स्वास्थ्य की हिफाजत करते हैं। दो साल पहले बाढ़ में छह सौ घर बह गए थे। उन सबको गांव की बचत समितियों ने फिर से खड़ा कर दिया और हर घर के साथ स्नानघर तथा शौचालय बना दिए।

ठेला चलानेवाले हद से अधिक बोझ खींचते हैं। खींचने के वजन की निश्चित सीमा तय करने का म्युनिसिपल नियम "सेवा" के प्रयत्नों से बना है तब से गर्भपात की घटनाओं में कमी आई है। अहमदाबाद के नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डिजाइन की सलाह-संशोधन के मुताबिक हाथ ठेले का नया डिजाइन ऐसा बनाया गया है कि उसमें कम श्रम लगे इसके अलावा इसमें ब्रेक सिस्टम भी बनाया गया है, लेकिन यह प्रयोग सफल नहीं हो पाया। पुरानी रट की आदत के अलावा नया सिस्टम महंगा भी पड़ा। सिलाई करनेवालों की कमर अकड़ जाती है। गरदन में दर्द होने लग जाता है उनके लिए एक ऊंची कुर्सी बनाई गई, नए

किस्म के झाड़ू, टोकरे, रस्से से कचरा उठाने के लिए चिमटा, सफाई करनेवाले के लिए मोजे, मास्क, बोरे तैयार किए गए इन साधनों में भी संपूर्ण सफलता नहीं मिली क्योंकि नए साधन महंगे पड़ते हैं। इसके अलावा कामगार स्त्रियों की अपनी भी मानसिक उत्सुकता नए साधनों के प्रति कम होती है। और फिर समाज का क्षोभ आदि तो है ही।

बच्चों की देखभाल

मां काम पर जाए उस दौरान बच्चे की देखभाल भी एक महत्पूर्ण सेवा है। और इस पर श्रमिक स्त्रियों की आर्थिक एवं स्वास्थ्य की स्थिति निर्भर करती है। ये माताएं कई बार अपने बच्चों की कीमत पर ही कमाई करती हैं। इसीलिए "सेवा" की "संगिनी" नामक बालसेवा सहकारी समितियां 600 सदस्यों के बच्चों के लिए बाल-हिफाजत के दिन-केंद्र चलाती हैं। 'सेवा" यूनियन इन समितियों का मार्गदर्शन करता है तथा तालीम सुलभ कराता है। ये दृष्टिकोण "सेवा" रचित तमाम समितियों पर लागू होता है। इसमें सभासद स्त्रियां भी समिति की संचालक और मालिक के रूप में तैयार होती हैं। लोकतांत्रिक संचालन की यह बुनियाद है। आणंद तहसील में शैशव बालसेवा समिति भी इसी तरह तंबाकू के 3000 खली कामगारों एवं खेत मजदूर सदस्य स्त्रियों के लिए दिन-केंद्र चलाती हैं। परिणामस्वरूप इन माताओं की उत्पादकता और आय बढ़ी है, माताएं बच्चों के विकास में दिलचस्पी लेने लगी हैं। और पिता भी बच्चों के विकास के बारे

में जानने को उत्सुक हुए हैं। सबसे विशेष बात तो यह घटित हुई कि जिन तंबाकू के खली मालिकों के खिलाफ "सेवा" यूनियन भाव बढ़ोतरी के लिए लड़ती है और कोर्ट केस करती है वही मालिक सरपंच के तौर पर गांव में "सेवा" के इन बाल केंद्रों के लिए जगह सुलभ कराते हैं। और साल भर की कुछ रसद भी जमा कर देते हैं। 'ऐसा तो तुम्हारे गांधी के गुजरात में ही हो सकता है।" ऐसा कई बार सुनने को मिलता है। "मालिक यूनियन की सहायता करे और यूनियन सहायता ले ले?" खैर समस्या तो यह है कि देश के छह करोड़ बच्चे जो बिलकुल ही निम्नस्तर के अल्पपोषण से पीड़ित हैं उनके लिए ऐसे किन्हीं "दिन-केंद्रों" की सुविधा नहीं हैं। मौजूदा सरकारी योजना तो सिर्फ तीन लाख बच्चों तक ही पहुंचती है। आई.सी.डी. एस. की योजना भी केवल दस प्रतिशत बच्चों की ही दोपहर में देखभाल करती है।

"सेवा" के दोपहर की हिफाजत करनेवाले केंद्रों से पता चलता है कि स्पष्ट रूप से ये केंद्र श्रमिक माताओं के लिए काफी लाभदायी साबित हुए हैं। माताओं की आय रु. 50 से रु. 300 तक बढ़ी है। सुरेन्द्र नगर जिले की नमक कामगार माताओं में से 96 प्रतिशत की आय दुगुनी हुई है। और फिर बालमृत्यु की दर में भी भारी कमी आई है। 70 प्रतिशत बच्चे स्कूल जाने लगे हैं।

राष्ट्रीय बजट में बच्चों की देखभाल के लिए एकदम नहीं के बराबर और सतही व्यवस्था है। बच्चों के लिए राष्ट्रीय नीति का बिलकुल ही अभाव है। "सेवा" के अनुभव के मुताबिक दिन में बच्चों की हिफाजत करनेवाले केंद्रों को अच्छे से सावधानीपूर्वक

चलाया जाए तो ये गरीब माताएं अवश्य ही फीस देती हैं। "सेवा" के ये तमाम दिन केंद्र लगभग आत्मनिर्भर हैं, केवल 20 प्रतिशत के करीब ही अनुदान की आवश्यकता होती है। अगर इतना योगदान गरीब माताएं देती हों तो सरकार सहारा देने में क्यों अटक महसूस करती है? देश की 17 संस्थाएं ("सेवा" सहित) पिछले दो बजट वर्षों से वित्तमंत्री से मांग कर रही हैं कि साल के 300 दिनों के प्रतिदिन पांच रुपए के हिसाब से अगर पैसा आवंटित किया जाए तो स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से अतिशय जरूरतमंद 6 करोड़ बच्चों के जीवन जोखिम से उबर सकते हैं। इन (0–5 की उम्र के) बच्चों को आवश्यकता है 200 से 300 कैलोरी युक्त खाने की तथा दिन भर के दौरान की जाने वाली देखभाल की। लेकिन बच्चों का जीवनाधिकार मांगनेवाली माताओं या स्वयंसेवी संस्थाओं को अभी संगठित आवाज की शक्ति को आजमाना बाकी है। ये खर्च देश की आय का आधा प्रतिशत भी नहीं होता हालांकि इस खर्च को बोझ की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। ये तो भविष्य के लिए पूंजी निवेश है।

कारखाने या दफ्तर में काम करने पर प्रसूति सहाय की सवेतन छुट्टियां और खर्चे के लिए मुआवजा मिलता है, और वो भी कानूनी तौर पर मिलता है। लेकिन हकीकत में इस किस्म का लाभ देश के महिला कामगारों के 6 प्रतिशत को ही मिलता है। बकाया 94 प्रतिशत तो इस कानून से बिलकुल ही बाहर हैं। क्या ये 94 प्रतिशत स्त्रियां कामगार नहीं हैं? यह तो एक बड़ी और लंबी लड़ाई है इस बात का पता "सेवा" को शुरू में ही चल गया था। हुआ ये कि 1976 में एक सर्वे किया था जिससे पता चला कि दो साल के अंदर ही "सेवा" बैंक ने 1200 स्त्रियों

को लोन दिया था, इसमें से 15 स्त्रियों की मृत्यु हो गई और उनमें से भी 12 स्त्रियों की मृत्यु जचकी के कारण हुई। कोई बीमा कंपनी जचकी का बीमा नहीं उतारती, इसीलिए ''सेवा'' को अपनी प्रसूति-सहाय योजना गढ़नी पड़ी। लेकिन (इसका फंड) मैंने हर सदस्य को हांक लगाई कि हर सभासद को अपनी एक दिन की रोजी योगदान में देनी होगी। इस तरह हमने 1977 में एक प्रसूति-सहाय फंड खड़ा किया। आगे चलकर स्त्रियों ने मृत्यु सहायता योजना भी बनाई। इन तमाम योजनाओं को ''सेवा'' के सदस्यों ने अपने आप ही बनाया था। ये ''सेवा'' योजनाएं भारत में और संगठित वर्ग के लिए बनने वाली किसी भी किस्म की सामाजिक सुरक्षा योजना की अग्रदूत रही हैं।

उसके बाद गुजरात सरकार की ओर से प्रसूति-सहाय योजना बनाई गई। पॉयलट स्वरूप योजना ''सेवा'' के माध्यम से चलाई गई। बाद में पूरे राज्य में खेत मजदूर स्त्रियों पर भी उसे लागू किया गया। लेकिन पर्याप्त आर्थिक व्यवस्था के अभाव में यह सरकारी योजना बहुत अधिक प्रचलित नहीं हो पाई।

घर

गरीब श्रमिक स्त्रियों के लिए घर सुरक्षा देने वाला सिरछत्र तो है ही इसके अलावा आय का एक साधन भी है। यह ग्रामीण तथा शहरी दोनों के लिए सच है: घरखाता, कारीगर, कामगार, बिक्री करनेवाले, किसान, वनवासी या सड़क से कचरा बीननेवाले, सभी तरह के श्रमिकों की कमाई उनके घर की स्थिति पर निर्भर

करती है। उनके लिए घर ही कारखाना है। यही कार्यशाला है, गोदाम है, भंडार है, दुकान है, प्रोसेसिंग हाउस है। और ये सब कुछ घर में ही है। पानी और बिजली का उत्पत्ति स्थान भी घर ही है। तब "सेवा" बैंक का 39 प्रतिशत ऋण घर के लिए हो तो इसमें अचरज की क्या बात है? दीवार पक्की करवानी हो, दरवाजा लगवाना हो, छत की खपरेलों की फेरवट करना हो, जमीन ठीक करनी हो, –भले ही घर मिट्टी का क्यों न हो। सेवा बैंक के उनके खाते में थोड़ी राशि जमा होने पर स्त्रियां नया घर खरीदती हैं। पड़ोसी का घर मौके पर मिल जाए तो सौदा कर लेती हैं। पुराने घर में सुविधाएं बढ़ाने का काम सबसे अधिक होता है। कामगार तो हैं लेकिन अंततः तो गृहिणी ही हैं न! मिट्टी के घर को पक्का बनाती हैं। पानी की निकासी कराती हैं, शौचालय बनवाती हैं, नहानी और पनसाल भी तो चाहिए। देवता स्थान बनाती हैं। चाल वाले मिलकर चाल के भीतर के रास्ते को पक्का करवाते हैं। यह सब इन स्त्रियों के बैंक में खाते होने की वजह से ही तो संभव हो पाता है। ये कहती ही हैं कि "सेवा बैंक हमारी मां"। लेकिन हां, सबसे बड़ी शर्त ये कि जो जगह ली जाए उसमें घर की मालिकी में स्त्री का नाम शामिल किया जाए और नया घर लिया जाए तो घर के कागजातों में भी पहला नाम स्त्री का हो।

हनीफा यूनो की हेबीटाट कॉन्फरेन्स में ईस्तम्बूल गई। कैसे गई? "सेवा" बैंक की ओर से इनाम लेने गई। यूनो की ओर से सेवा बैंक को हाउसिंग का प्रथम पारितोषिक मिल रहा था। हनीफा ने अपने भाषण में कहा कि 'मैं नदी के पट में रहती हूं। रोज दोनों समय घर में समोसे बनाकर बाहर ठेले पर बेचती हूं

और दोपहर के समोसे एक रेस्तरां को सप्लाई करती हूं। पहले मेरे घर में बहुत रेत उड़कर आती थी। अब घर में दरवाजा लगवा लिया है तमाम दीवारें पक्की कर ली हैं, छत डलवाई है और इसलिए समोसे की गुणवत्ता में काफी अंतर आया है। मेरी सास चरखा कातती हैं, उनकी कताई भी काफी सुधर गई है। पहले लीपा हुआ फर्श था, अब फर्श के कुछ हिस्से मे पत्थर लगवा लिए हैं। पैर ऊपर रख कर चरखा कातती हैं इसलिए तार एक सा निकलने लगा है। रु. 700 में से सीधे 2000 की आय हुई।"

"सेवा'' बैंक के काउंटरों पर छोटे से मनमोहक घर का सुंदर नमूना रखा गया है उसे देखकर कोई भी स्त्री घर के लिए न ललचाए यह संभव नहीं है। उसका सपना सुगबुगाया ही समझ लो कि "मेरा घर कब?" 1996 के वर्ष में "सेवा" की 22,000 स्त्रियों ने अपने घर बनवाए, मरम्मत करवाई, सुधार करवाया।

नाम है महानंदा नारायण, लेकिन उनके सिर पर छत तक नहीं है। पति और बच्चों के साथ फुटपाथ पर रहती हैं। कमाई में तो बीड़ी बनाने से जो कुछ मिल जाए वही था। पति व्यसनी था, इसलिए कभी बुरी तरह पीट देता। रोज का कमाती थीं उसी से पेट भरना होता था। उनका घर कैसा है? बोरे की छत और बोरे की ही दीवार। यह तथाकथित घर कौमी दंगों में चार-पांच बार लुट गया, जला दिया गया, एक बार तो झोंपड़े के ऊपर ट्रक चला दिया गया, पति तथा बच्चों को विशेष रूप से चोट आई।

ऐसी पांच सौ स्त्रियों का घर के लिए सर्वे किया तथा ऑडा के शहर विकास अधिकारी को अहवाल सौंपा। केवल 110 घरों के लिए ऑडा की ओर से चिट्ठी डाली तो उसमें महानंदा का नम्बर लग गया। 1987 मे चिट्ठियां गई और घर बने ठेठ 1991

में। लेकिन गरीबों की तकदीर तो गरीब के हिसाब से ही चलती है। उन घरों के अंतरराष्ट्रीय विमानतल की सीमा में पहुंच जाने के कारण पूरी गृह-योजना को रद्द करना पड़ा। 110 घर बने हुए सामने खड़े थे लेकिन उसमें रहने की मंजूरी नहीं थी। फिर तो ऑडा पर गिड़गिड़ाहटों का, धरनों का मोर्चों का, काले-झंडों का, बातचीत का जोरदार प्रहार किया गया। नए मकानों के वचन फले, अंतत: 1993 में, महानंदा हर लड़ाई में शामिल थीं, रोजी छोड़कर भी घर के लिए सब जगह दौड़-दौड़कर हिस्सा लेती थी। 1991 की 25 दिसम्बर को महानंदा का पदार्पण अपने घर में हुआ। और तब उसने जरूर सात स्वर्ग पाने का आनन्द महसूस किया होगा। हाथ में मकान की चाबी थी लेकिन बगल में पति के मौजूद न होने की ग्लानी भी थी। बेटी ने आंगन में रंगोली डाली थी। तमाम 110 मकानों की इस महिला कॉलोनी को "अनसूया-नगर" नाम दिया गया। सदगत् अनसूया बहन ने निराधार स्त्रियों के लिए अभयाश्रम स्थापित किया था और उनको अंजली स्वरूप महानंदा ने स्थापित किया "अनसूया नगर"।

दयावती अपने परिवार के साथ नदी के पट पर बने झोंपड़े में रहती है। दीवार ईंटों की है, जमीन पत्थर की है और छत चद्दर की है। दयावती पानीपुरी का धंधा करती हैं। सुबह पांच बजे उठकर ग्यारह बजे तक पूरियां बेलकर तैयार कर लेती हैं। फिर वे दूसरे व्यापारी को दे आती हैं। अब तो उन्होंने बंद हो चुकी मिल के मिलमजदूर अपने पति को भी काम में लगा दिया है। पति तथा उनके दो छोटे बेटे अहमदाबाद के दो मोहल्लों में पानीपुरी का खोमचा लेकर बेचते हैं।

यह धंधा दयावती ने अपने पिता से सीखा था। लेकिन उनके



झोंपड़े की स्थिति ऐसी है कि रसोई का काम संभव ही नहीं होता। लकड़ी के पटिए इधर-उधर ठुके हुए हैं, मिट्टी की जमीन है। घास के पुले की छत है, बिजली नहीं है, गटर लाइन और पानी भी नहीं है, पूंजी भी नहीं है। पड़ोसन के माध्यम से दयावती की ''सेवा'' बैंक से मुलाकात हुई। बचत शुरू की। दो हजार रुपए का लोन लेकर पहले जमीन ठीक करवाई। दूसरी बार लोन लेकर घर बदला और नदी के किनारे दूसरा अच्छा घर लिया। एक दिन ये घर भी गिर गया। बच्चों के साथ दयावती मिट्टी में दब गई। पड़ोसियों ने बाहर निकाला। ''सेवा-बैंक मेरी मां'' कहकर फिर से लोन लिया, घर की मरम्मत करवाई और धंधा जमाया। पत्थर लगवाए, चद्दर डलवाई, दो दरवाजे लगवाए। और ये सब घर के सबने स्वयं मजदूरी करके किया। धंधे में सुधार

हुआ, मुनाफा हुआ, बचत हुई। रु. 25,000 का लोन लेकर आगे बड़ा कदम उठाया। जब सीजन होता है तो पार्टी के आर्डर लेते हैं। और तब दीवार से दीवार तक बिछी पूरियों का दृश्य देखने लायक होता है। घर में बिजली आई, नहाने की जगह बनवाई। टेबल-फेन लिया। सोने का एकाध जेवर बनवाया। लड़का कॉलेज में आया है वो एक बार पास हो जाए उसके बाद ही घर में टी.वी. आएगा, ऐसा कड़ा नियम दयावती ने घर के लिए बनाया है। वे गोरखपुर की मूल निवासी हैं। उनके पति का नाम है मुलायमसिंह यादव। किसी की दया पर जिएं इतनी कमजोर दयावती नहीं हैं। वे सबल हैं।

सामाजिक सुरक्षा

जीवन तो विपदाओं की अटूट श्रृंखला है। गरीबों के जीवन में तो कई किस्म की कई विपदाएं आती हैं और आती ही रहती हैं। स्वयं नहीं तो भी घर में कोई न कोई तो बीमार बना ही रहता है। अक्सर बेरोजगारी के दिन देखने पड़ जाते हैं। दुर्घटनाओं में कोई न कोई अंग टूट जाता है, अस्पताल का पलंग किसी के हिस्से आता है तो कोई रामशरण हो जाता है। इस जीवन-क्रम में कोई अचरज नहीं है बाह्य कारणों से भी विपदाएं आती हैं: जैसे अकाल, बाढ़, दंगे, कोई उद्योग बंद हो जाता है, किसी के लिए कच्चा माल नहीं मिलता आदि-आदि। इस तरह गरीबी में बढ़ोतरी होती है। "सेवा" ने इन तमाम शक्तियों का गहराई से अध्ययन किया। "सेवा" बैंक ऋण तो देता है लेकिन मानव निर्मित या

प्राकृतिक विपदाओं का उचित ढ़ंग से मुकाबला न हो तो "सेवा" बैंक के उस ऋण से जीवन सक्षम कैसे हो सकता है?

"सेवा" बैंक के माध्यम से सामाजिक सुरक्षा योजना शुरू की। इसमें तमाम सदस्य स्त्रियों को समूह बीमा योजना में समाहित कर लिया गया। समय की निश्चित अवधि वाली बचत के साथ प्रिमियम चुकाने को भी जोड़ दिया। बीमा कंपनी के साथ बातचीत करके स्त्रियों की आवश्यकता के मुताबिक बीमा योजना तैयार की। इस योजना में विविध किस्म के जोखिम को भी समो लिया गया। जैसे कि मृत्यु, वैधव्य, दुर्घटना, अस्पताल का खर्च, विपदा आग में नष्ट होनेवाले उत्पादनों के साधनों की पूर्ति, व्यावसायिक जोखिम जैसे कि बीड़ी बनाने का काम और सांस की बीमारी, कारीगरों को आंख की तकलीफ—इन सब को भी समो लिया गया है। आखिर में बचा प्रसूति का जोखिम, जचकी से मां हेमखेम खड़ी होगी कि नहीं। इस बात को लेकर हर गरीब स्त्री मन में डरी रहती है। इस भय को टालने के लिए सेवा बैंक ने पहले के अपने अनुभव के आधार पर अपनी मौलिक योजना बनाई: मातृत्व रक्षा योजना। बाकी बीमा कंपनियां तो यही मानती हैं कि प्रसूति तो स्वाभाविक स्थिति है, इसमें जोखिम काहे का? ये तो "सेवा" का महिला बैंक था इसलिए उसने मां की गरीबी की स्थिति को समझा और फिर हर गांव तक सरकार का डॉक्टरी तंत्र पहुंच नहीं पाया है। तो वहां प्रसूति का जोखिमपूर्ण होना स्वाभाविक है। इस हकीकत को बीमा कंपनियों को समझा पाना मुश्किल है।

सरकार का हस्तक्षेप दैनंदिन जीवन के कामों में नहीं के बराबर होता है ऐसा मानते हैं फिर भी कभी लगता रहता है कि

कुछेक क्षेत्रों में हस्तक्षेप करके गरीबों के पक्ष में नीति बनाए रखने का प्रयत्न सरकार को करना चाहिए। सरकार के नए आर्थिक सुझाव तथा खुले बाजार की नीति के तहत् दवाइयों के बाजार में उछाल आया है। दवाइयों की कीमतें देखते-देखते बहुत बढ़ गई हैं। नई दवाई नीति के मुताबिक दवाइयों की कीमत पर से सरकार ने जब नियंत्रण हटा लिया है तो जीवन रक्षक दवाइयां भी उनमें से नहीं बचने पाई हैं। परिणामस्वरूप बेहद अनिवार्य जीवन-रक्षक दवाइयों की कीमतें भी साल भर के दौरान तीन से चार गुना बढ़ गई हैं। उदाहरण के तौर पर टी.बी. (क्षय) की दवाई। ''सेवा'' के सदस्यों में से 63 प्रतिशत स्त्रियां टी.बी.की मरीज हैं। उनकी जीवन-रक्षा का क्या? ''सेवा'' ने ''लोक-स्वास्थ्य'' नामक सहकारी समिति बनाई है। जो आरोग्य सेवा के अलावा दवाई के बिक्री काउंटर भी चलाती है। लोक स्वास्थ्य समिति का अनुभव कुछ ये रहा है कि कैमिस्ट के यहां बिकने वाली पैटेंट दवाइयों की कीमत ''लोक स्वास्थ्य'' की गैर-पेटेंट यानी जेनरिक या रेशनल दवाइयां पांच गुना से लगाकर चार सौ गुनी सस्ती होती है। इस काउंटर पर की दवाइयों की बिक्री से ''सेवा'' की सदस्य स्त्रियों को काफी लाभ मिला है। लेकिन सरकार जब दवाई की कीमतें खुले बाजार में मनमर्जी से बढ़ने देती है तो ऐसे में ''लोक-स्वास्थ्य'' समिति उसे किस तरह पहुंचा पाएगी? ये एक गंभीर सवाल है।

कमलाबहन दंताणी प्याले-बरनी का धंधा करती हैं। नदी के पट पर उनके झोंपड़े है। कहती हैं कि बाढ़ आती है तब उन्हें बड़ा नुकसान होता है। झोंपड़े के साथ भीतर का भी सबकुछ साफ हो जाता है। हमारा माल, कपड़े के गट्ठर, नए बरतन, मशीन सबकुछ बह जाता है। हर बाढ़ के बाद हम कमजोर होते जाते हैं। लेकिन

पिछले साल "सेवा" की बीमा योजना से मैं जुड़ी तो इस साल बाढ़ में मुझे इसका लाभ मिला। उधार लिए माल के पैसे चुका दिए। और दूसरे में से फिर से झोंपड़े को खड़ा किया वरना तो कर्जे से उबरना कभी नहीं हो पाता। जोइती बहन मछली का धंधा करती हैं। बाढ़ का पानी उनके घर में भर जाने से सारा माल खराब हो गया, जाल बह गया। दो जून पूरा खाना भी नहीं खाते थे। बीमा की रकम मिलने पर सबसे पहले नया जाल खरीदा। इससे थोड़ी राहत अवश्य हुई।

पिछले मजदूर दिवस पर (1 मई) को "सेवा" ने गुजरात राज्य सरकार से मांग की है कि गुजरात में स्त्रियों के लिए एक बड़ा "सामाजिक सुरक्षा फंड" स्थापित किया जाए, और इस फंड से स्त्रियों की आरोग्य सेवा, बालसेवा, तथा घर की सुविधाओं की व्यवस्था हो पाए। अगर संचालन ठीक से हो तो स्त्रियां स्वयं निश्चय ही योगदान देंगी।

सेवा–अकादमी

मैं तो "सेवा" यूनिवर्सिटी स्थापित करना चाहती थी।

"क्यों क्या हमारी भी यूनिवर्सिटी नहीं हो सकती"? सच में हमारी स्त्रियों के पास अनुभव, ज्ञान, जानकारी, सयानेपन का अखूट भंडार है। उनको बाहर की दुनिया से बहुत ज्ञान प्राप्त करना है, लेकिन उसी तरह उनके पास दुनिया के ज्ञान–संपुट में अपना योगदान देने लायक भी काफी कुछ है। इसी समझ के साथ "सेवा" ने सेवा अकादमी की स्थापना की (1990) में।

उसका *प्रमुखतम* काम है "सेवा" मुहिम के सैनिकों (कार्डर) को *तैयार* करने का। स्थानीय स्त्रियों में ही ऐसा सामर्थ्य आना चाहिए *कि* वे अपने रचे महिला संगठनों का अच्छे से संचालन कर सकें, स्वतंत्र रूप से निर्णय ले सकें और देश के विकास की मुख्य धारा में असंगठित वर्ग के श्रमिकों को (92.7 प्रतिशत) सक्रिय कर सकें। ऐसी मुहिम का नेतृत्व "सेवा" की स्त्रियां बड़े पैमाने पर लेने लायक समर्थ हो सकें यही "सेवा" अकादमी का मूल ध्येय है।

"सेवा" अकादमी की कसौटी यह है कि किसी भी किस्म की तालीम निरक्षर के अनुरूप और श्रमिक के लिए उत्साहवर्धक साबित हो। गांधी के बताए रास्ते से सामाजिक न्याय की लड़ाई चलाने के लिए फौज तैयार करनी है। यहां तो स्त्रियां स्वतंत्र रूप से विचार करना सीखती हैं, निर्भिकता के पाठ पढ़ती हैं, दूसरी स्त्रियों को अपने साथ जोड़ने की तलब जगाती हैं।

चीखोदरा गांव की खली कामगार खनीबहन अकादमी की तालीम के बाद घर जाकर रात को मोहल्ले की स्त्रियों को इतनी आसानी से समझाती हैं कि गांधी-बापू का जीवन हमें सच बोलना सिखाता है, अपने पैरों पर खड़े होना और परस्पर विश्वास करना सिखाता है। वे अपनी आदतों को सादा रखने का आग्रह रखते हैं।

बशीरबहन (ग्राम गोपालपरा) भरी सभा में "सेवा" की सम्माननीय मेहमान श्रीमती क्लिंटन से कहती हैं कि "अब मैं किसी से नहीं डरती हूं, सरपंच, ठेकेदार, पुलिस या पति—किसी से भी नहीं"

बीड़ी कामगार कमला आमंत्रण से अपने समूचे पद्मशाली

समाज की, अखिल भारतीय स्तर पर बिना स्पर्धा के अध्यक्ष चुनकर आई हैं। प्याला-बरनीवाली चंदाबहन "सेवा" बैंक की पहली प्रमोटर जब विश्व महिला बैंक के अंतरराष्ट्रीय फोरम में तत्कालीन वित्त मंत्री श्री मनमोहन सिंह के साथ मंच से प्रमुख व्याख्यान दे रही थीं, तब श्रोताओं में बैठे थे जर्मनी तथा हॉलैंड सहित पंद्रह देशों के वित्तमंत्री। करीमाबीबी चिंदी कामगारों के आगेवान के रूप में खोलियों की सिलाई बढ़वाने की बातचीत में लेबर कमिश्नर के समक्ष विरोध पक्ष में बैठे अपने सगे भाई (व्यापारी) के साथ तर्क करते हुए लड़ती हैं। ये ही सब हैं "सेवा" अकादमी के तालीमकार।

"सेवा" अकादमी में तालीम के लिए आने में स्त्रियों को बड़ा मजा आता है। शहर में कर्फ्यू लगा हो तब भी कुछ भी करके आ पहुंचती हैं। रोजी का दिन तोड़कर भी आती हैं। गांव और शहर की अलग अलग धंधों की स्त्रियां रात को इकट्ठा रहती हैं तब शिक्षा के परस्पर नए-नए अनुभव का लेन-देन होता है। गांव की स्त्रियों को यह भी पता नहीं होता कि बिना जमीन के कमाई हो ही कैसे सकती है? उनके सिर पर रात भर पंखा घूमता है पर उन्हें नींद नहीं आती। थांगली की रूड़ीबहन पहली बार गांव से बाहर निकलीं थीं। अहमदाबाद में एलिस पुल पार करके पुल के दूसरे सिरे पर अकादमी में जाना था तो पुल पर चलने से उन्होंने साफ इंकार कर दिया। बहुत समझाया लेकिन ना-हां नहीं हुई। क्यों? तो कहती हैं कि वे पुल तो दो ही खंभों पर टिका है। कभी भी हिल जाएगा अपने दो पैर क्या बुरे हैं? अंततः पुल पार नहीं किया उन्होंने, नदी में चलकर ही सामने पहुंची।

"सेवा-अकादमी" में सबसे पहली तालीम "तीन दिवसीय

शाला'' होती है इसमें उन्हें ''गर्व से बोलो अपना नाम'' तथा ''सेवा'' के काम सिखाए जाते हैं। इनमें से चुनिंदा तालीमार्थी को ''कदम-एक'' की तालीम में ''पंद्रह दिवसीय शाला'' में प्रवेश मिलता है। इस तालीम के दौरान हर एक को अपनी आपबीती तथा दूसरी एक स्त्री की जीवनरेखा लिखने को काम सौंपा जाता है। जिन्हें लिखना नहीं आता उन्हें दूसरे लिख देते हैं। हर रेखाचित्र में मुझे तो गरीब स्त्रियों के उच्च संस्कार भाव के ही दर्शन होते हैं। इसका एक नमूना बताती हूं।

धनलक्ष्मी का जन्म शहर की एक चाल के एक कमरे के कोने में हुआ था। पांच बेटों पर एक बेटी थी कितनी ही मन्नतों के बाद आई थी इसलिए छोटी धनी काफी लाड़ली थी। वे अपने बचपन को याद करते हुए अपनी जीवन कथा कहती हैं। धनलक्ष्मी की जीवन कहानी-उन्हीं के शब्दों में...

'मैं अकेली लड़की होने से कई बार बीमार पड़ जाती थी, बहुत पैसे खर्च करके मुझे जीवित रखा गया था। फिर भी मैं बीमार पड़ जाती थी। कई ओझाओं को बुलाया और दिखाया तो वे लोग कहते थे कि इस लड़की को परायी गोद में डाल दो ठीक रहेगी। इसीलिए पांच साल की उम्र में ही मेरी सगाई कर दी थी। छठवें साल में मुझे आश्रम में पढ़ने के लिए भेजा गया। वहां एक बार पलंग से गिर गई इसलिए मुझे घर ले आए। फिर दूसरे स्कूल में रखा...पढ़ने के अलावा मुझे सिलाई, खेल-कूद का बड़ा शौक था। मैंने फाइनल की परीक्षा दी। मेरे ससुरालवाले अब शादी करने की जल्दी मचाने लगे। लड़की बड़ी हो गई है उसे कब तक संभाले रहोगे? आदि-आदि कहते थे। लेकिन मेरे बड़े भाई ने कहा कि नहीं, अभी देर है। तब मैं सातवीं में पढ़ रही

थी। स्कूल से मुझे सौराष्ट्र की यात्रा पर जाना था। मेरे पति भी प्रवास में हमारे साथ आए थे। वापस लौटे तो समाज के लोग मेरे बारे में बुरी–बुरी बातें करने लगे इसलिए मेरे भाई–और पिताजी ने मेरी शादी कर दी।

ससुराल आई तो मेरे पति ने कहा कि तुम सब सुखी हो लेकिन हमारे यहां गरीबी है, तुम एक और खानेवाली बढ़ गई हो इसलिए अब पढ़ाई छोड़ दो और काम करने के लिए जाओ। अपने पति की ऐसी बात सुनकर मुझे रोना आ गया। मैंने कहा कि मुझे सुख नहीं चाहिए। मैं तुम्हारे साथ रहकर दु:खसे मुकाबला करूंगी। मैं अपने मायके जाकर सिलाई मशीन ले आई और थोड़ा कच्चा माल भी। मेरे ससुरालवालों को यह बात बहुत अच्छी लगी। मेरी मां रोज शाम को खाना बनाकर मेरी ससुराल में खाना देने आती थी। हम बहुत ही गरीब थे। ओढ़ने को कुछ न था, बरतन भी नहीं थे। मेरे पिता ने ओढ़ने के लिए मुझे एक शॉल दिया जिसे हम दोनों आधा–आधा ओढ़कर रात गुजारते थे।

मैंने शहर के रास्ते नहीं देखे थे। कोई धंधा करने में मुझे डर लगता था। और इन्हीं विचारों में मैं बीमार हो जाती थी। इतने में मुझे गर्भ ठहर गया। हम दोनों ने गर्भ गिरा देने के लिए बहुत प्रयत्न किया, लेकिन कुछ नहीं हुआ। मेरी मां को जब इस बात का पता चला तो वो आकर मुझसे कहने लगीं कि बच्चे को जन्म देकर मुझे सौंप देना मैं उसे पाल लूंगी।

एक बार मेरी सास मुझे सब्जी–भाजी बेचने ले गई। चार दिन मैं उनके साथ गई तो मुझे अनुभव हो गया। फिर ऐसा करते करते मैं अकेली ही जाने लगी। दिन में टोकरी, रात को सिलाई और खूब सवेरे छाछ बेचने जाती थी। ऐसा करते करते मुझे

पहला लड़का हुआ, और उसके चलते मेरा काम बंद होने की स्थिति आ गई। घर में खाने-पीने की भी गिनती लगानी पड़ गई ऐसी हालत थी। इसलिए बच्चे को मायके छोड़ना पड़ा। मेरी भाभी बच्चे को दूध पिलाती और संभालती। इसी तरह काम कर-करके अपने पति को मैंने बारहवीं तक पढ़ाया। जेवर मायके से लाई थी उनको भी बेच दिया।

मेरे ससुर की तबीयत खराब हो गई। उन्हें रक्त-पित्त की बीमारी हो गई। उनकी तिमारदारी में हम दोनों पति-पत्नी हाजिर रहते। ससुरजी के माता-पिता भी हमारे साथ रहते थे। ऐसे में मैंने एक बेटी को जन्म दिया। इस बार तो हमारी स्थिति इतनी खराब थी कि दाई को देने के लिए एक रुपया भी नहीं था। मेरी सास ने कहा कि जचकी में अगर तुम्हें घी खाना हो तो तुम्हारे पिता के घर की गुण्ड बेच दो। मैंने कहा कि मुझे गुण्ड बेचकर घी नहीं खाना है। ऐसी स्थिति में मायके में मेरी भाभी ने दो जुड़वां लड़कों को जन्म दिया। मायके से मेरे भाई ने संदेशा भेजा कि बेटी को लेकर तुम यहां आ जाओ। एक बेटे को तुम दूध पिलाना और अपनी भाभी के साथ रहकर अपनी बेटी को बड़ा करना।

बारिश ने भी मेरी कड़ी परीक्षा ली। एक ओर ससुराल का दुःख दूसरी ओर भाई का ऑपरेशन। और पानी इतना बरसा कि हमारे ढलानवाले घरों में पानी भर गया। अपने भाई के घर जाने के लिए निकली। हाथ में छोटा आठ दिन का बच्चा, कमर तक पानी, रात का समय, सिर पर बिजली की गड़गड़ाहट और मूसलाधार बारिश। रास्ते में एक अजानी चाल में किसी के घर रात रुकना पड़ा। उन दिनों में बहुत ही दुःख मिला। अपने भाई से मिलने जाने लायक पैसे भी नहीं थे। मेरे भाई ने घर वापस

लौटने के लिए जो पैसे दिए उन्हें मैंने पैदल चलकर बचाया और उसमें से रसोई बनाई।

इस प्रकार मेरे बच्चे दस साल के हुए। इसके बाद मेरे जीवन में बदलाव आया। मेरे पति को टेलिफोन विभाग की नौकरी का आदेश मिला। शुरू में रु. 500 वेतन था। घर का पूरा संचालन हमें दे दिया।

बीमारी में मेरे ससुर की मृत्यु हो गई। दो साल के अंदर घर में जितने बुजुर्ग थे, वे सब मर गए। समाज के रीति-रिवाज के मुताबिक क्रिया-कर्म किया।

बहुत दुःख उठाकर बच्चों को पढ़ाया। बड़े बेटे को बारहवीं पास कराई और बेटी को दसवीं तक पढ़ाया। बेटे की शादी पंद्रह साल की उम्र में की। बाद में बेटी की शादी की। बेटे के पास नौकरी नहीं थी। तो उसे लकड़ी की छोटी टाल खुलवा दी। वो रिक्शा भी चलाता है।

घर की जिम्मेदारी बोझ की तरह लगती थी लेकिन किसी तरह निबाह रही थी। रुपए-पैसे से परेशान थी। मुझे पैसे की जरूरत पड़ी तो मेरे दूर के जेठ ने कहा कि "सेवा" बैंक में जाओ हो सकता है, वहां तुम्हें ज़ेवर पर लोन मिल जाए। बैंक में ही मेरी मुलाकात हमारी बिरादरी की चंपाबहन से हो गई उन्होंने मेरा खाता खुलवाया, लोन दिलवाई, फिर से दोबारा लोन ली और नियमित रूप से उसे चुकाया। वे दो लोन, ली तब कहीं जाकर हमारा कर्ज़ उतरा और जेवर सही-सलामत रहे।

हुआ ऐसा कि, हमारे इलाके के टोकरेवालों ने मुझे अपना आगेवान चुना, इसलिए मुझे एक के बाद एक मीटिंगें करनी पड़ती थीं। एक बार मुझे स्टेज पर ले जाकर माईक पर बोलने को

कहा गया। मुझे जैसा आया मैंने बोला। समस्या कर्फ्यू से संबंधित थी। सबने तालियां बजाईं, मुझे अचरज हुआ और बड़ी शर्म लग रही थी। बीमा, चंदा-सब कुछ मेरे ही काम थे। उन्हें मैं बड़े उत्साह से करती थी।

इसी बीच "सेवा" की कार्यकारिणी के चुनाव आए मेरे प्रतिनिधियों ने फिर से मुझे चुन लिया। यह तो तेरी चढ़ती हो गई। फूल-मालाएं पहनाई गईं और मेरी ख्याति बढ़ी।

फिर दिल्ली जाना हुआ। दिल्ली में मोर्चा निकाला। राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए। बहन इलाबहन और मैं, हम सब पकड़ लिए गए थे और कस्टडी में रखा गया था।

मैंने बालसेवा की लंबी तालीम ली और फिर मुझे एक आंगनबाड़ी (दिवस-केंद्र) चलाने को दी गई। सभी बच्चों की मां का काम मैं करती थी।

"सेवा" में मुझे सबसे अच्छी बात यह लगती है कि यहां मेरा सातवीं तक पढ़े होना काम आता है। मेरा टोकरा तो है ही लेकिन अब दो ठेले भी ले लिए हैं।

बस एक ही तमन्ना है कि पांच हजार चुनिंदा आगेवानों को तैयार करके दिल्ली ले जाऊं और श्रमजीवी स्त्रियों को अधिकार मिल जाए इस तरह से सबको हिला कर रख दूं।

शक्तिकरण का दूसरा नाम स्वाश्रय

आर्थिक शक्ति के बिना गरीब स्त्रियां उन्हें मिलने वाले राजनीतिक अधिकारों को अख़्तियार नहीं कर पाएंगी। ये बात

हमें सामने की दीवार पर साफ तौर पर लिखी नजर आती है। इसीलिए ''सेवा'' का विशेष झुकाव आर्थिक शक्ति विकसित करने पर ही रहा है।

लेकिन अभी मंजिल बहुत लंबी है। वैश्विक बाजारों की हवा का थपेड़ा इतना प्रबल है कि जनता अपने ही मजबूत आर्थिक संगठनों के बिना कहीं की कहीं फिंका जाएगी। हां, ये है कि जनता के आर्थिक संगठन मजबूत और समर्थ होंगे तो वे विश्व बाजार से सीधा लाभ उठा पाएंगे। यह बहुत बड़ी चुनौती हम सबके सामने खड़ी है।

इसीलिए श्रमजीवी जनता को इस चुनौती को लेने लायक शक्ति विकसित करनी होगी। दूध मंडली हो कि मत्स्योद्योग हो, कारीगरों की समिति हो कि बचत मंडल, खेती के द्वाकरा समूह हों कि नाबाई के ''सेल्फ हेल्प ग्रुप'' सभी को अपने-अपने मैनेजर चाहिए होते हैं। वो कौन देगा? इनको ''बिजनेस-प्लानिंग'', पैसे का संचालन, ऋण की पड़ताल, मार्केटिंग—यह सब सिखाने के लिए स्कूल तथा अध्यापक आज कहीं हैं भी? इनके पेट पालनेवाले व्यवसायों को मुनाफादायी उद्योगों मे रूपांतरित नहीं किया गया तो इस वैश्विक खुले बाजार में गरीब लोग इधर-उधर भटकते छूट जाएंगे। इस दिशा में ''सेवा-अकादमी'' और ''सेवा-बैंक'' नंगे पैर वाले मैनेजरों (स्त्रियों) को गांव गांव में तैयार करने में जुटे हैं। यह तो ''सेवा'' का विनम्र प्रयत्न है। अभी तो मंजिल बहुत लंबी है।

गरीब स्त्रियों का शक्तिकरण (एमपॉवरमेंट) कब होता है? ठोस परिभाषा में कहो तो जब संपूर्ण रोज़गार और स्वावलंबन प्राप्त होता है तब होता है, शक्तिकरण। मेरा अनुभव कहता है कि जब

स्त्री *की आय* बढ़ती है, रोजगार स्थिर होता है, साधन और *मिलकत* की वो मालिक बनती है, तब स्त्री की आर्थिक सामर्थ्य *का*, आज़ादी का, स्वायत्तता का असली अनुभव होता है। स्वावलंबी होना है, दो तरह से: आर्थिक रूप से और निर्णय लेने में, व्यक्तिगत तौर पर और संस्था के तौर पर भी।

"सेवा" की स्त्रियां अपने यूनियनों को तथा सहकारी समितियों को स्वयं चलाना सीख गई हैं और जब वे उनके बोर्ड एवं समितियों में बैठती हैं तो मिलकर स्वयं निर्णय लेने की स्थिति में आ गई हैं। अब उन्हें व्यापारियों एवं मालिकों, सरकारी अधिकारियों, बैंकों के साथ समकक्ष होकर एक ही मेज पर बैठकर बातचीत करके काम को अंजाम देना होता है। पहले तो मालिक-नौकर या सेठ-मजदूर का संबंध था, उसमें से अब समकक्ष होने की यह निरंतर की यात्रा बहुत धीमी, उबाऊ और तकलीफदेह होती है। लेकिन इसके अलावा भी स्त्रियों को यह बात समझ में आ गई है कि आर्थिक शक्ति को छोड़कर कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इस सबके सार का सार यह है कि हमारे राजनीतिक अधिकार अर्थहीन हैं। वह जानती है कि मेरे हाथ में स्थायी काम होना चाहिए। उसमें से वाजिब मुआवजा मिलना चाहिए, पेट भर खाना मिलना चाहिए, इसके अलावा बीमारी-तिमारी पर दवा-दारू, बच्चों की देखभाल और सिर पर छत चाहिए कम से कम इतना मिल जाए तो पूर्ण रोज़गारी प्राप्त हुई माना जाएगा। इतनी प्राप्ति न हो तब तक अपनी लड़ाई जारी रहेगी। हारने पर भी पुनश्च हरिओम होगा।

किस तरह की संस्था स्त्रियों को शक्तिकरण की ओर ले जाती है दयादान देनेवाली कल्याणकारी संस्था तो कम से कम

नहीं। इसके अलावा एक ही व्यक्ति के इशारों पर नाचनेवाली संस्था भी नहीं। संस्था तो सदस्यों की ही होती है और नियंत्रण भी उन्हीं का होता है। रामपुर गांव में स्त्रियों की दुग्ध-समिति को जमीन छीन लेनेवाली टोली (पुरुषों) से कड़ा मुकाबला करना पड़ा था। क्योंकि सिर तक उठ आए धान को जमीन सहित यह टोली पचा जाना चाहती थी। वृक्ष पनपानेवाली समिति "वनराजी" की स्त्रियों ने चरवाहा पुरुषों से जबरदस्त टक्कर ली थी कि कहीं सरकार द्वारा दी गई परती जमीन छिन जाए और वे फिर से खाली हाथ न हो जाएं। सब्जी वालों की समिति "हरियाली" ने इतनी कमाई की, इतनी कमाई की कि, इसकी बचनेवाली राशि से "सेवा" यूनियन को उन्होंने एक मकान भेंट में दिया और यूनियन ने अलबत्ता सब्जी-टोकरेवालों को बाज़ार में बैठने की जगह का अधिकार सुप्रीम कोर्ट से प्राप्त कर दिया। मूल बात यह है कि संघर्ष प्रक्रिया में हर कदम पर लड़नेवालों में आत्मशक्ति सिंचित होती है। वैर-भाव नहीं है। और यही सच्चे संगठन का महत्व है। इसी तरह स्त्रियां देशतंत्र की मुख्यधारा में प्रविष्ट होती हैं। "सेवा" यूनियन, "सेवा-बैंक", "सेवा" सहकारी समितियां एक दूसरे के साथ एक शरीर से जुड़ी हैं क्योंकि स्त्रियां तो वही की वही हैं भले ही कानूनी ढांचे अलग हो गए हों। कोई यूनियन है तो कोई सहकारी समिति है। लेकिन "सेवा" परिवार तो 2, 12, 016 का वटवृक्ष है।

सदस्य स्त्रियों के निजी जीवन में भी सामूहिक जीवन के अनुभव के चलते गजब की शक्ति आती है। फेमिदाबी अपने गांव से बीड़ी कामगारों की मीटिंग में अहमदाबाद आ रही थीं।

बेटा सिर पर पेटी रखकर आगे चल रहा था। फेमिदाबी बुर्का ओढ़कर पीछे-पीछे चल रही थी। एक दूसरे, दूसरे से तीसरे मोहल्ले को तेजी से लांघती जाती हैं कि समय पर बस-स्टैंड पहुंचना है। मोहल्ले में सारे लोग "आइएगा" "खुदा-हाफिज" कहकर शुभेच्छाएं देते जा रहे थे। इन सभी ने फेमिदाबी को सर्वसम्मति से अपना प्रतिनिधि चुना था। सबको पता था कि भाव बढ़ोतरी के लिए श्रममंत्रीजी से मिलने गांधीनगर में जो प्रतिनिधि मंडल जाने वाला है उसमें शामिल होंगी फेमिदाबी। फेमिदाबी गंभीर थीं। उनके मन पर उत्तरदायित्व का हल्का सा बोझ था, कि तभी अंतिम मोहल्ले के चबूतरे पर खड़ी राबीया खातून ने चिल्लाकर कहा, "खाला, क्या बुर्का पहनकर क्रांति करोगी?" उन्होंने चिढ़ने के लिए कहा या सच्चे मन से कहा, यह तो राबिया जाने लेकिन फेमिदाबी को तो बात बुरी तरह लग गई। वे लौट पड़ीं फिर घर पहुंची और बुर्का उतार आईं। बस-स्टैंड पर बेटे ने जैसे ही बेपर्दा मां को देखा तो उसकी भवें तन गईं। उसने मां से अबोला ठान लिया। विदाई के दो शब्द भी वह नहीं बोला। फेमिदाबी की बस चल पड़ीं। वे सोचती रहीं, मन ही मन प्रश्न पूछती रहीं कि मैंने उचित किया है अथवा अनुचित। लेकिन हर बार भीतर से उत्तर आता था कि उन्होंने उचित ही किया है। मुझे वजह बताते हुए उन्होंने कहा कि "आज मेरी बहू को मैंने आजाद कर दिया" ये दस साल पुरानी बात है। फेमिदाबी मध्यप्रदेश "सेवा" की अध्यक्ष बनीं। आज वे मौजूद नहीं हैं लेकिन कितनी सारी बहू-बेटियों को वे आज़ाद कर गई हैं।

विशेष रूप से गरीब स्त्रियां जब अपनी व्यवसाय के जात-बिरादरी

या मोहल्ले के आधार पर नहीं–लेकिन अपने रोजगार के आधार पर संगठित होती हैं तो समाज जीवन में दो चीजें घटित होती हैं। एक तो स्त्री को खुद समझ में आता है कि वह "कामगार" है या "उत्पादक है" कि "व्यापारी" है। वह सिर्फ किसी की पत्नी, मां या गृहिणी भर नहीं है। राष्ट्रीय आय में मेरे श्रम का ही योगदान है इसलिए उसमें मेरा हिस्सा भी है, यह बात उन्हें पक्के तौर पर समझ में आ जाती है। अपने संगठन में विविध स्तर पर हिस्सा लेते हुए उन्हें अपनी योग्यताओं का दर्शन होता हैं। आत्मविश्वास बढ़ता जाता है। यूनो ने (एस्काप) "सेवा" के इम्पेक्ट (1999) का जो अध्ययन किया उसके निष्कर्ष समझने योग्य हैं। "सेवा" की 52 प्रतिशत स्त्रियां अपने को घर का मुखिया मानती हैं और 20 प्रतिशत उप–मुखिया मानती हैं। वे कहती हैं कि "हर स्त्री को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना ही चाहिए। "स्त्री की मालिकी भी परिवार तथा समाज की मिलकत पर होना चाहिए।" शत–प्रतिशत स्त्रियों ने बताया कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों के काम के घंटे अधिक हैं। "सेवा" से जुड़ने के बाद परिवार में उनका दर्जा कुछ ऊपर उठने लगा है। उनके विचारों का वजन पड़ता है। 32 प्रतिशत स्त्रियों से परिवार की मिलकत (जमीन, घर) खरीदते समय उनकी राय पूछी गई थी। 35 प्रतिशत स्त्रियों ने अपने बेटे–बेटियों के विवाह के मामलों में स्वतंत्र निर्णय लिया था। सभी स्त्रियों ने (1200) सार्वजनिक सभाओं एवं जुलूसों में भाग लिया था जबकि पुरुषों में तादाद सिर्फ 15 प्रतिशत ही थी। हर स्त्री का पंचायत या नगर–पालिका या पुलिस या सरकारी अथवा बैंक के अधिकारी से काम के सिलसिले में पाला पड़ा जबकि उनके पुरुषों में से केवल 4

प्रतिशत ने ही ऐसा किया। देश के पिछले सामान्य चुनाव में स्त्रियों ने स्वयं ही निर्णय लिया था कि किसे मत दिया जाए? और 36: प्रतिशत चुनावी सभाओं में उपस्थित रही थीं।

दूसरी एक चीज व्यावहारिक स्तर पर बननेवाले संगठन के चलते ये होती है कि स्त्रियों में भीतर ही भीतर एक भावात्मक एकता प्रकट होती है। कौम, प्रदेश, भाषा, धर्म के भेद धीरे-धीरे कम होते जाते हैं और वे परस्पर के सुख-दुख में सहायक होते हैं। माणेकचौक में सब्जी वाली वाघरी स्त्रियां धरने पर बैठीं तब घरखाता मुस्लिम चिंदी कामगारों ने हड़ताल करनेवालों के बच्चों की देखभाल की और कागज बीननेवाली हरिजन स्त्रियों ने खाने के पैकेट सुलभ कराए। इस तरह सबका सहयोग मिलने पर सब्जी भाजी वाली वाघरी स्त्रियां हड़ताल में जीत गईं। संघबल जैसा कोई बल नहीं है अगर वे रचनात्मक मार्ग यानी कि सत्य के सिद्धांत पर चलें तो स्त्रियों में ये "सेवा" भाव अभी भी कायम है। किसी भी मजदूर संगठन के लिए कौमी एकता अनिवार्य है।

जब आर्थिक स्तर पर गरीबों के संगठन बनते हैं तब वे संघ रचना में नई लीकें भी डालते हैं, जैसे कि अध्यापिकाओं एवं माताओं ने मिलकर "संगिनी" नामक सहकारी समिति बनाकर अपने ही बच्चों की देखभाल की। सरकारी बालवाड़ी आने की राह देखते नहीं बैठे रहे। खाराघोड़ा की नमक-कामगार स्त्रियां बाल केंद्रों में माता-अध्यापिका एकरूप होकर बालसेवा करती है। मुझे वेतन कहां मिलता है कि मैं पराए बच्चों को देखूं वाला भाव माताओं में नहीं रहता। "लोक स्वास्थ्य" आरोग्य समिति भी पहले किस्म की समिति है। जिसकी रचना लेडी

डॉक्टरों से लगाकर दाइयों तक की 100 के करीब आरोग्य सेविकाओं ने साथ मिलकर की है।

समिति ने जिस दिन दो म्युनिसिपल जनरल अस्पतालों में तीन पालीवाले दवाइयों के काउंटर खोले उस दिन वहां के दवाई बाजार में सन्नाटा छा गया। एक ही हफ्ते के भीतर आसपास के कैमिस्टों को अपनी रातपाली बंद कर देनी पड़ी और दो महीनों में तो तीन कैमिस्ट की दुकानें वहां से हट गईं। ऐसा है प्रभाव सहकारिता का। तंगदिली हांलांकि अब भी ठंडी नहीं पड़ी हैं। धन्य हैं "लोक स्वास्थ्य" काउंटर की स्त्रियों को जो दवाई के थोक खुदरा व्यापारियों से लगाकर ठेठ आरोग्य मंत्री तक से टक्कर ले रही हैं। ऐसी ही एक और समिति है "सौन्दर्य समिति" ये सफाई के कामों को लेकर बहुत ही गरीब कागज बीनने वाली स्त्रियों के जीवन स्तर को ऊपर उठाती हैं। अपनी लड़ाई में उन्होंने एक कानूनी सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि एक औद्योगिक इकाई में कर्मचारियों के यूनियन को प्रतिनिधि के तौर पर कर्मचारियों की रोजगार की स्थिति के संबंध में बातचीत करने का जितना अधिकार है उतना ही अधिकार उस इकाई के कर्मचारियों की सहकारी समिति को भी अपने प्रतिनिधित्व का है। कोर्ट का यह फैसला अनन्य और ऐतिहासिक है। इसके बावजूद "सौन्दर्य" का कर्मचारी यूनियन के साथ होने वाले दैनंदिन संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है।

सबसे अनन्य तो है दाइयों की समितियां और वीडियो सेवा समिति भी। "सेवा" ने गांधीनगर जिले में दाइयों की जनगणना की (1999)। उससे पता चला कि 78 प्रतिशत स्त्रियां अभी भी अस्पतालों में नहीं बल्कि घर में दाइयों से ही जचकी कराती हैं।

जबकी दूसरी ओर दाइयों की संख्या में पिछले पांच वर्षों के दौरान एक भी दाई की बढ़ोतरी नहीं हुई है। यानी कि दाइयों की संख्या कम होती जा रही है और प्राथमिक आरोग्य केंद्र तो सब तक पहुंच नहीं पाते हैं। निजी डॉक्टर तो पुसाते नहीं है। तब मरन्ती तो बेचारी प्रसूताओं की ही न होगी? जिन्हें अभी भी वृद्ध और कमजोर होती जा रही दाइयों के सहारे जीना पड़ता है।

जनगणना के बाद ''सेवा'' ने सशक्त दाइयों को चुन-चुनकर उनकी बड़ी सघन तालीम आरोग्य विभाग के माध्यम से करने का बीड़ा उठाया। दूसरे साल दाइयों ने अपनी समिति बनाई जिसका नाम है ''कृष्णा'', ''कृष्णा'' के हाथ कामों से लदे हुए हैं। जचकी का काम तो प्रमुखतः है ही। इसके अलावा पांच साल की उम्र तक बच्चों की जांच, गर्भवती स्त्रियों की नियमित जांच, आवश्यक सलाह, तिमारदारी, परिवार नियोजन के तमाम कामों को करती है और साधारण बीमारियों का उपचार भी। सही मायने में तो ये नंगे पैर चलनेवाले डॉक्टरों का काम करती हैं। सफेद कोट हाथ में लेकर जतकाली के घर की ओर तेजी से जाती दाई को देखकर न कोई हंसता है और न ही उसके पीछे कुत्ता दौड़ता है।

संचारमाध्यम

"अनसूया" पाक्षिक:—

ये युग तीन "यो" का युग है—रेडियो, ऑडियो, वीडियो। ये तीनों साधन शिक्षा के महत्वपूर्ण साधन हो सकते हैं। इसलिए "सेवा" ने भी इनकी शरण ली है। अनुभव ये बताता है कि किसी को कुछ सुनाया जाए तो उसे बताए हुए को याद रखने में कितनी मेहनत होती है उससे बहुत कम मेहनत में देखी हुई चीज को आदमी याद रख सकता है। श्रृव्य साधनों की तुलना में दृश्य साधन अधिक उपयोगी साबित हुए है।

इन संचार माध्यमों में अखबार-पत्रिका बहुत बड़ी भूमिका अदा करते है। कार्यकर्ता बार-बार सदस्यों के घर नहीं जा सकते। घर-घर पहुंचनेवाला साधन तो एक अकेली पत्रिका ही है, ताकि सदस्य स्त्रियों की "सेवा" संबंधित विचारधारा स्पष्ट होती रहे। नए विकास में संयोजन करने के लिए निर्माण होता रहे इस दृष्टि से 1982 से "सेवा" के मुखपत्र के रूप में "अनसूया" नामक पाक्षिक प्रकाशित हो रहा है।

असंगठित क्षेत्र की श्रमजीवी स्त्रियां अपनी बात को समझ सकें और अपने काम को दृश्यमान करके अपनी समस्याओं को वाणी दे सकें। ऐसा अनोखा अखबार है "अनसूया" जो अभी सोलहवें वर्ष में आगे कूच कर रहा है। "अनसूया" के विशाल वाचक वर्ग का कुछेक अशिक्षित वर्ग भी उसे अपना अखबार मानता है। हमारे तमाम पाठकों का यही सबसे बड़ा साथ है सबसे बड़ी उष्मा है, इसलिए तो दशाब्दी अंक में "अनसूया" के दस वर्ष के

अंकों का अध्ययनपूर्वक किया गया निष्कर्ष निकालकर विविध अध्येताओं को उसका रसदर्शन कराया है। और जिसने हमारे उत्साह को कई गुना बढ़ाया है। इसलिए आज ढेरों की तादाद में प्रकाशित होनेवाले अखबारों के बीच भी "अनसूया" का अविचल स्थान हमारी श्रमशक्ति की पतवार बना हुआ है।

श्रमजीवी स्त्रियों के साथ-साथ समूचे महिला विश्व को एक सूत से बांधने की तत्परता हमेशा दिखानेवाले इस पाक्षिक "अनसूया" का विशाल और सर्व वर्गी पाठक वर्ग है अनपढ़ या निरक्षर स्त्रियां। इस पाक्षिक की सामग्री को दूसरे से पढ़वाकर भी जब उसमें अपने मन की बात को प्रस्तुत किया हुआ देखते हैं तो उन्हें वो अपना ही कुछ हो, ऐसा लगता है। कुछ इसी आशय की प्रतिक्रिया साक्षरों और सामाजिक कार्य का वरण करनेवाली स्त्रियों से मिलती रही है।

जन्म से लगाकर पंद्रह साल तक के "अनसूया" के स्वयंसेवी जागरण की महिमा को गाने बैठें तो पंद्रह साल के 360 अंक उन 32 पुतलियों की तरह एक-एक कहानी के रूप में साक्षी देने लगते हैं।

1999 की जनगणना में "मैं और मेरा काम" को दर्शाने के लिए घर में बैठकर काम करनेवाली स्त्रियों को कामगार की गिनंती में लेने के लिए "अनसूया" के माध्यम से स्त्रियों को अपनी सभी जानकारी के ब्योरे जनगणना फॉर्म में भरने के लिए विशेष समझ सुलभ करानेवाला आलेख छपा था जिसका प्रभाव गुजरात के गांवों के और शहरों के विशाल श्रमजीवी वर्ग पर इतना जबरदस्त पड़ा था कि "अनसूया" के गांवों में जनगणना के पिछले अहवाल की तुलना में इस बार की रिपोर्टिंग में 84

प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई।

ज्योत्सना दर्जी का काम करती हैं और अपने छोटे-छोटे भाई-बहनों को पढ़ाती हैं। सिलाई का काम सीखकर थोड़ा बहुत काम भी वे करती रहती हैं वे एक कचहरी में नौकरी भी करती हैं। उनके पिता बिल्कुल ही निष्क्रिय हैं। घर का गुजारा तथा व्यवहार सबकुछ ज्योत्सना पर ही निर्भर करता है। इसके बावजूद भी जब उनसे सवाल पूछा कि आपके घर में प्रमुख बड़े कौन हैं? तो ज्योत्सना ने कहा कि मेरे पिता। बुजुर्ग के सम्मान की द्रष्टि से यह जवाब उचित है लेकिन 1991 की जनगणना के सवाल के उत्तर में नहीं। यहां ज्योत्सना ही मुख्य व्यक्ति के रूप में दर्ज होंगी। लेकिन यह जवाब स्वयं ज्योत्सना को देना पड़ेगा।

हाल ही में "अनसूया" ने अपना ट्रस्ट बनाया है—"श्री महिला सेवा तथा अनसूया ट्रस्ट" श्रमजीवी माताओं की कन्याओं के लिए ट्रस्ट ने 'आकाशगंगा' नामक एक मासिक पत्र शुरू किया है ताकि बालिकाओं को आनंद-मनोरंजन के साथ व्यावहारिक ज्ञान भी सुलभ हो सके।

वीडियो सेवा:—

वीडियो सेवा दस साल से भी अधिक समय से अस्तित्व में है और वीडियो सेवा समिति ने बताया है कि वह आधुनिक तकनीक का उपयोग बड़ी कुशलता से कर पाती है। इसमें कोई शक नहीं कि वीडियो सेवा, वीडियो के माध्यम से और उसकी क्षमता से गरीब स्त्रियों को संगठित करके उनमें जागृति लाई है और उसने उनकी समस्याओं को आगे बढ़ाया है।

वीडियो सेवा ने गांव को अपना कार्यक्षेत्र बनाने के लिए

तालीम शुरू की है। इसमें गोंद बीननेवाले, तंबाकू कामगार, बीड़ी *कामगार* जैसी ग्रासरूट स्त्रियों को गांव मे वीडियों की संचार *व्यवस्था* का केंद्र स्थापित करने के लिए तैयार किया। अहमदाबाद दूरदर्शन से एक बार वीडियो सेवा का काम संभालनेवाली नीला बहन दातणिया के काम का एक सुंदर कार्यक्रम प्रसारित हुआ। एक स्कूल के चबूतरे पर सड़े हुए फलों की टिपनिया लेकर बेचने के लिए बैठनेवाली इस नीलाबहन की वीड़ियो लीला को देखकर हमेशा ही मेरा मन नाच उठता है।

वीडियो सेवा टीम वीडियो सेवा के काम को संभालती है। कभी-कभी बाहर की संस्था भी वीडियो फिल्म उतारने के लिए वीडियो विभाग के समक्ष मांग प्रस्तुत करती है। वीडियो प्रोडक्शन विकास का एक माध्यम है और इसके साधनों का इस्तेमाल करना सब कोई सीख सकते हैं। वीडियो सेवा में कैमरामैन कौन है? लीलाबहन और साउंड रिकार्ड़िग कौन करता है? धनलक्ष्मी कपड़ा काम मार्केट की सिर पर बोझा ढोनेवाली मंजुला, उनके साथ है अरूणा। स्क्रीन प्रिंटर मजदूर की बेटी दर्शना रूढ़िग्रस्त राजपूत की पत्नी है। सात लोगों की यह टीम सब जगह घूम-फिरकर और देखसुनकर वीडियो कार्यक्रम बनाती है। ये काम वे ‘‘सेवा’’ के लिए ही करती हैं व्यापारिक ध्येय के लिए नहीं। अपने सदस्यों की शिक्षा-तालीम के लिए, नीति-निर्माताओं को गरीबों की समस्याएं समझाने के लिए इन कार्यक्रमों का उपयोग होता है। हां, कभी-कभी उनको इनाम भी मिल जाते हैं और कभी कभी विकासलक्षी कार्यक्रम होने की स्थिति में दूरदर्शन खरीद भी लेता है।

नीलमबहन के घर में सारे लोग फोटोग्राफी के धंधेवाले हैं,

"सेल्फ इम्प्लॉइड" नीलमबहन वृद्ध सास-ससुर, दो बेटे, बेटी, दो देवर—सभी का घर का काम-खाना सबकुछ संभालती हैं। पल भर को भी चैन से बैठना तो संभव ही कैसे हो सकता है? लेकिन भीतर की बेचैनी कुछ नया करने को चंचल हो उठती है। ऐसी ये नीलमबहन आज वीडियो सेवा की प्रमुख संचालक हो गई हैं। कितने ही देश विदेशों में घूमी हैं और तरह तरह के पुरस्कार भी पाए हैं उनके ससुर तथा पति बेस्टफोटोग्राफर हैं इसके अलावा वे शादियों के वीडियो भी बनाते हैं। दोनों बेटे भी इसी व्यवसाय में हैं। लेकिन वे जब छोटे थे तब घर आनेवाले मेहमानों से गर्वपूर्वक कहते थे कि मेरे पिता तो शादी का वीडियो उतारते हैं लेकिन मेरी मम्मी तो दूरदर्शन का वीडियो बनाती हैं।

साक्षरता :—

सेवा अकादमी में कार्यकर्ताओं तथा सदस्य स्त्रियों को तमाम तरह की तालीम दी जाती है। नेतृत्व, कदम, साक्षरता, लेखनकला, रिसर्च इंवेस्टीगेशन, द्वाकरा समूह संचालन, कंप्यूटर, कोडिंग एनेलिसिस जैसे तमाम तरह के कार्यशिविर पिछले छह सालों में आयोजित हुए। इन शिविरों में निरक्षर स्त्रियों को खुलते और खिलते देखना भी एक अनुभव है।

कई लोग पूछते हैं कि साक्षरता का काम इतनी देर से क्यों? जबकी 'सेवा" को तो पच्चीस साल हो गए हैं। मैंने भी अन्य मध्यवर्गीय स्त्रियों की तरह मान लिया था कि पढ़ने-लिखने लगेंगी तो गरीब स्त्रियों की आधी मुसीबतें दूर हो जाएंगी। क्या आप यकीन करेंगे कि अठारह बार साक्षरता कक्षाएं शुरू कीं लेकिन वे नहीं चलीं। तब मेरी समझ में आया कि अक्षर ज्ञान के

साथ जीवन का संदर्भ तो होना ही चाहिए। उनकी जीवंत एवं रोजगार की समस्याएं दूर करनेवाला अक्षर ज्ञान देनेवाले शिक्षक कहां से लाए जाएं? ठेठ 1999 में अब जाकर अक्षर ज्ञान देना शुरू किया है। वंदनाबहन ने स्त्रियों को अक्षर ज्ञान देने के इरादे से 15 से 18 और 25 से 50 वर्ष तक के दो अलग आयु समूह बनाए और कक्षाओं का समय स्त्रियों के काम में बाधा न पहुंचे इस तरह का रखा जाए, तभी वे आ सकती हैं। अक्षर ज्ञान देने की प्रणाली एकदम सादी ओर सरल रखी गयी है। ताकि स्त्रियों को दिलचस्पी भी आए और वे जल्दी से पकड़ भी पाएं।

सदस्य स्त्रियां स्वयं ही हस्ताक्षर करके व्यवहार चलाने लग गई हैं। धीरे-धीरे पढ़ने और पत्र भी लिखने लगी हैं। रात-दिन गरीबी के साथ जंग छेड़े बैठी स्त्रियों को क, ख, ग, लिखना कठिन तो है ही मगर "अंधे और अनपढ़ दोनों एक से" इस कहावत का अनुभव कई बार होने से पढ़ने का मन तो नहीं करता। कई स्त्रियां तो सपने भी देखने लगती हैं कि कब कुरसी पर बैठें और टेबल पर की फाइलों में कुछ न कुछ लिखती रहें। स्त्रियों को अक्षर ज्ञान देना बहुत जरूरी है।

55 साल की सोनाबहन डब्बे धोने का काम करती हैं। पति फेरी लगाते थे बेटे अलग रहते थे। दोनों काम करते थे और घर चलाते थे उन्हें मगर पढ़ने का बड़ा मन था। "सेवा" द्वारा शुरू की गई साक्षरता कक्षाओं में सोनाबहन रोज पढ़ने जाती हैं। बड़ी उत्साही सोनाबहन ने काफी कुछ सीख लिया। भीतर की हुलास उम्र को नहीं देखती। वे कहती हैं कि थोड़ा बहुत भी अगर सीख लेंगे तो किसी के अधीन तो नहीं रहना पड़ेगा। अंगूठे के बदले अब सोनाबहन हस्ताक्षर करती हैं। आगे अधिक सीखने के लिए

कक्षाओं में नियमित रूप से जाती हैं।

लेकिन कभी साक्षरता कक्षाओं के गुरू-शिष्य बदल भी जाते हैं। अनपढ़ कहलाती स्त्री जिन्दगी के पाठ को पढ़ाती है, समाज कहां खड़ा है इसका अहसास भी कराती है।

फूलबाई धोलका तहसील की गरीब परिश्रमी स्त्री हैं, मजदूरी करके पेट पालती है। साक्षरता कक्षाओं में जाती हैं। एक दिन परीक्षा देने को रात भर याद किया कि क कमल का क, ग गुलाब का ग लेकिन सुबह जब उठीं तो सब भूल गई।

दोपहर कक्षा में गई तब उनका मुंह उतर गया था। अध्यापिका ने रुक-रुककर पूछा तो बोलीं "बहन, पहले मुझे बताएंगी कि कमल यानी क्या?"

"अरे तुम्हें इतना भी पता नहीं है, तालाब में जो फूल खिलता है उसे कमल कहते हैं।"

"लेकिन बहन, तालाब यानी क्या?" फूलबहन ने दूसरा सवाल पूछा। अरे-रे, तुम्हारे गांव के बाहर देवड़ तलैया नहीं है? उसमें अगर पानी भरें तो उसे तालाब कहा जाएगा और उसी में कमल खिल सकता है।"

"अरे बहन, कैसा पानी हम तो दस कोस चलकर पानी लाते हैं तब कहीं पानी मिलता है। हमें फूल के ऐसे नाम कैसे आ सकते हैं?" आक, धतूरा, चौलाई, मिर्च कहो तो पता भी चले।"

कक्षा पूरी हुई तब तक तो श्यामपट पर, "क कमल का" का क हवा में उड़ गया था।

"सेवा" की कार्यकर्ता अक्षरज्ञान देने के लिए गईं। लेकिन गांव की एक निरक्षर स्त्री से समाजशास्त्र सीखकर लौटी।

वन्दनाबहन : अब पुलिस का प बोलती हैं तो सब समझ जाते हैं। इसके अलावा पुलिस, कानून, अनुशासन, संसद आदि तमाम विषयों को प के साथ जोड़ लेती हैं।

"सेवा" की गतिविधियों को अंकों में संक्षिप्त ढंग से इस प्रकार दर्शाया जा सकता है: 1999, यूनियन गतिविधि के माध्यम से 38,000 सदस्यों की रु 4 करोड़, 80लाख के करीब आय में बढ़ोतरी की थी, जबकि ग्राम विकास के माध्यम से 35,000 स्त्रियों ने नौ करोड़ सत्तर लाख रुपए की आय खड़ी की थी। "सेवा"बैंक के माध्यम से 96,000 सदस्यों (ग्राम की स्त्रियों सहित) ने एक करोड़ पचास लाख रुपए के करीब की स्त्रियों की मालिकी की संपदा खड़ी की। 20,154, स्त्रियों तथा 31,798 बच्चों तक आरोग्य सेवाएं पहुंचाई गई। 9486 सदस्यों तक कानूनी सेवा पहुंचाई गई। 595 सदस्यों ने संगठन की तालीम प्राप्त की।

तमाम सदस्यों को सामूहिक बीमा योजना में समो लिया गया है। अब ये सरकार के राहत कार्यों पर निर्भर नहीं हैं—राहत कार्य हमेशा ही मिट्टी खोदने और पत्थर तोड़ने के ही होते हैं। वे गरीब लोगों के जीवन का कितना उद्धार कर सकते हैं? ये स्त्रियां एक बार संगठित हुई तब उनमें नया-नया कुछ करने की हिम्मत और सूझ-बूझ आई। ओर अपने बूते वे कुछ जीवन विकास साध पाई। रचनात्मक संगठन अनिवार्य है, इसका कोई पर्याय या विकल्प नहीं है, न ही कोई छोटा रास्ता है। मरे बिना कोई स्वर्ग पहुंचा है क्या?

''सेवा'' मुहिम:—

गुलामी, गरीबी, बेकारी, भेदभाव की स्थितियों में पड़े रहना किसे अच्छा लग सकता है? ये तो एक असह्य फसावट है। इसमें से लाचारी की स्थिति में पड़ जाने से बचने के लिए मुहिम का होना जरूरी है। भारत में अनेक मुहिमें चली हैं। आंदोलन हुए हैं और आज भी सक्रिय हैं—पर्यावरण के, स्त्रियों के, दलितों के, आदिवासियों के मानव अधिकारों के, मजदूरों के आंदोलन इन सबमें सर्वसामान्य बात यह है कि सारे मनुष्यों के बीच देश के साधनों की न्यायपूर्ण और समानतापूर्ण बंटवारा हो। इन सबने मौजूदा स्थिति में आर्थिक स्तर पर बड़ा भेद खड़ा कर दिया है, पर्यावरण के स्तर पर नाजुक स्थिति खड़ी कर दी है, सामाजिक स्तर पर भेदभाव एवं विषमताओं को गहरा कर दिया है। और ऐसी कठिन स्थिति में स्त्रियों की दशा दयनीय हुई है।

''सेवा'' भी स्वाश्रयी स्त्रियों की एक मुहिम है। ''सेवा'' सिर्फ एक संस्था नहीं है। शुरू ये एक यूनियन के रूप में हुई थी। और यूनियन ही ''सेवा'' मुहिम का प्रभवस्थान बना। ''सेवा'' मुहिम के प्रमुख मुद्दे रोजी-रोटी के अधिकार से जुड़े हैं। गरीब कामगार, उत्पादक, साहसिक, बिक्रीकर्ताओं के रोजगार के माध्यम से देश की समृद्धि में इनका योगदान अदृश्य और वंचित रहने से ये श्रमिक स्त्रियां उच्च स्तर तक अपनी आवाज पहुंचाने की कोशिश में लगी हैं।

गरीब का धन तो गांठ में होना चाहिए। जेब में पैसे चाहिए। उनके बैंक आदि खातों में बैलेन्स चाहिए ताकि स्थानीय सूदखोर, कॉण्ट्रेक्टर, ठेकेदार, बड़े किसानों आदि के साथ उनका संबंध लाचारी का संबंध न रहने पाए। तभी गरीब लोग अपने

लघुता के भाव को त्याग सकते हैं। स्त्री होने की वजह से, नीची जाति का होने के कारण या निरक्षरता की वजह से अनुभव होनेवाली परवशता को संगठित शक्ति के माध्यम से दूर करके संगठन स्थापित करने में गरीबों की—गरीब स्त्रियों की सहायता समाज का हर वर्ग और सरकार करे यह आवश्यक है।

चार दशक की (1955–1995) श्रमजीवी स्त्रियों की इस "सेवा" यात्रा का संक्षेप में वर्णन करना हो तो मैं उसे "दूसरी आजादी" कहना चाहूंगी। गहन गर्व में बिंधी हुई गरीब स्त्रियों को अंजुलि-अंजुलि भर मिट्टी डालकर अंधेरी खाई से बाहर खींचना है। मुझसे जो कुछ बना मैंने किया। मेरे अनगिनती साथियों ने गड्ढे भरने में अथक मेहनत की है। गरीबी और असमानता को जब मैं दूर से देखती थी तो भयभीत हो उठती थी लेकिन मिट्टी से गड्ढे भरने की प्रक्रिया के दौरान हम सबमें एक अनोखा उत्साह और साहस भी जागा है, प्रचंड उम्मीद जागी है, कि रचनात्मक संघबल के माध्यम से हम संभवतः "मेरु" को हिला पाएंगे।

हर पल गड्ढों को भरते देखते हैं? कइयों को सतह पर पहुंचते देखते हैं, कभी फिर से गड्ढे में लुढ़कते भी देखते हैं लेकिन अगर मैं सच कहूं तो मुझे रोज-रोज "हैया" कहकर मिट्टी डालने का अनुभव ही मुझे तो परम हितकर लगा है।

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडिस्ट्रयल एरिया, फेज-I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित